UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186198

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H491.43/M11B Accession No. G.H.1625

Author मदन गोपाल।

Title भाषा। 1951

This book should be returned on or before the date last marked below.

भाषा

हिन्दी उरदू और हिन्दुस्तानी की तकरार पर एक बेलाग राय

लेखक

मदन गोपाल

हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी

१४५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

सेक्रैटरी
हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी
१४५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

यह किताब नागरी और उरदू दोनों लिखावटों में
मिल सकती है.

क़ीमत डेढ़ रुपया
पहली बार
अक्तूबर १९५१

नया हिन्द प्रेस
१४५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद

दो शब्द

भाई मदन गोपाल जी पिछत्तर साल का ज़माना देखे हुए तजरबेकार विद्वान हैं. भाषाशास्त्र पर उन्होंने ख़ूब पढ़ा और सोचा है. वह बिलकुल बेलाग और ग़ैरजानिबदार इनसान हैं. मैंने अनेक बार भाषा के सवाल पर और देस के दूसरे सवालों पर उन से घंटों बातें की हैं और लगभग हर बार उनसे कोई न कोई नई बात सीखी है. उनकी हर राय से मैं सहमत नहीं हूँ. पर मैं यह भी उतनी ही ज़िम्मेदारी के साथ कह सकता हूँ कि ख़ास कर भाषा के सवाल पर उनकी और मेरी राय मिलती बहुत बातों में है और मेरा उनका फ़रक़ कम बातों में है. किन किन बातों से मैं सहमत हूँ और किन किन से नहीं इस में जाना यहां ठीक मालूम नहीं होता. इतना कह देना बस है कि उन के विचारों में इतनी ताज़गी, इतनी गहराई और इतनी निष्पक्षता है और इन विचारों के पीछे इतनी ठोस जानकारी है कि मैं बड़ी ख़ुशी और फ़ख़्र के साथ उन की इस पुस्तक को हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी की तरफ़ से निकाल रहा हूँ और चाहता हूँ कि देस के जो भी भाई बहन राष्ट्रभाषा के सवाल में दिलचस्पी रखते हों वह इस छोटी सी पुस्तक को ध्यान के साथ और ठंडे दिल से पढ़ें. मुझे विश्वास है कि बहुत से पढ़ने वालों को इससे इस सवाल पर सोचने की राहें सूझेंगी, जानकारी बढ़ेगी और कई तरह की तंगनज़रियां जो देस को आगे बढ़ने से रोक रही हैं मिटेंगी.

१-८-'५१ सुन्दरलाल

सेक्रेटरी हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी

क्या कहां

१—बोली का जन्म और उसकी क़िस्में १

२—डिक्शनरी (कोश), वोकैबुलरी (बोल माला) ... १०

३—हरफ़ अक्षर १५

४—लफ़्ज़—शब्द ४०

५—ताना-बाना और बुनावट ४७

६—हिज्जे ५१

७—ग्रामर व्याकरन ५५

८—उरदू और हिन्दी ६४

९—बुनियादी ज़बान ८१

१०—फ़ारसी और अंगरेज़ी ८५

११—संस्कृत ९३

१२—हिन्दी और पंजाबी ९७

१३—ख़ालिस बोली—खिचड़ी बोली और बोली की दीवार १००

दीबाचा

मैं लिखने तो बैठा था उरदू हिन्दी अदब पर, लेकिन उसमें बार बार ज़बान का सवाल उठा जिसके हल किये बग़ैर लिखना फ़ज़ूल मालूम हुआ। मुझे ज़बान के इल्म से जानकारी न थी, सिर्फ़ इतना जानता था कि यह भी एक साइन्स है जिसके असूल हर ज़बान पर लागू हैं। खुशकिसमती से लाहौर की पंजाब पबलिक लाइब्रेरी दिल्ली या यू पी की लाइब्रेरियों जैसी नहीं। उसमें शेर शायरी और क़िस्से कहानियों के अलावा कुछ इल्मी किताबें भी हैं। इल्म ज़बान पर भी अंगरेज़ी में काफ़ी किताबें मौजूद थीं। मैंने थोड़ी ही पढ़ी थीं कि आंखें खुल गईं और यह उरदू हिन्दी का झगड़ा फ़ज़ूल मालूम हुआ। इसलिये मुनासिब समझा कि जो कुछ पढ़कर मेरी समझ में आया है अपनी बोली में अपने भाइयों के लिये लिख दूं ताकि शायद उन पर भी उन बातों का वही असर हो जो मुझ पर हुआ है।

यह अपनी ज़बान में लिखना शायद मुनासिब न था। हम अपने आप को चाहे कितना ही धोका दे लें, इस बात से इनकार नहीं हो सकता कि आजकल हमारी इल्मी ज़बान अंगरेज़ी है। किसी इल्मी मज़मून पर अपनी बोली में साइन्सी असूलों पर लिखना खासकर ऐसे मज़मून पर जहां जहालत ने धर्म की आड़ ली हो नादानी है। जिन दिनों मैं यह किताब लिख रहा था यह बात मुझे सूझी ज़रूर थी लेकिन चूँकि मैंने बचपन में अपनी मां-बोली की क़सम खाई थी कि मैं किसी और बोली में कोई किताब नहीं लिखूंगा और यह भी मुनासिब न मालूम हुआ कि जो कुछ मैंने पढ़ कर सीखा है अपने भाइयों तक न पहुंचाऊँ और उन्हें नाहक ठोकरें खाने दूं इसलिये मैंने यह बेवकूफ़ी कर ही दी। लेकिन यह बेवकूफ़ी कितनी बड़ी कितनी सख़्त मूर्खता थी इसका ज्ञान मुझे इस किताब की उरदू एडीशन छपवाने के बाद हुआ। अंगरेज़ीदाँ हिन्दुस्तानी में किसी किताब का पढ़ना

हतक समझते हैं। किसी हद तक वह सच्चे भी हैं क्योंकि सिवाय किस्से कहानियों के उरदू और हिन्दी में अच्छी किताबें कम छपती हैं। जिन्होंने अंगरेज़ी नहीं पढ़ी उन्हें इल्म का शौक ही नहीं और हो भी कैसे जब उनकी भाषा में कोई इल्मी किताब ही नहीं।

यह ज़रूर ख़याल था कि प्रेस में इस किताब पर ख़ूब ले दे होगी। क्योंकि हिन्दी और उरदू दोनों को मैंने ख़ूब दिल खोलकर सुनाई थी। लेकिन हुआ इसके बिलकुल उलटा। पचास से ज़्यादा कापियां रिव्यू के लिये भेजीं। सिवाय 'तेज' अख़बार के किसी ने नोटिस तक न लिया। 'तेज' ने भी चार सतरों में छुट्टी कर दी। एक अंगरेज़ी अख़बार के एडीटर से कुछ जान पहचान थी। उसने मेरे लिहाज़ से इस किताब की अपने अख़बार में कुछ तारीफ़ कर दी। बाक़ी राम राम।

ज़बान का सवाल हमारी पार्लमेंट में पेश होना था। इसलिये मैंने १५० कापियां हर एक ऐसे मेम्बर के पास डाक से भेज दीं जिनकी बाबत यह ख़याल हो सकता था कि उन्हें उरदू आती है। उनमें से किसी ने उसे पढ़ा या न पढ़ा इस बात का न मुझे इल्म हो सका और न गिला है। अफ़सोस है तो सिर्फ़ इस बात का है कि इन १५० में से एक ने भी इतनी भलमंसी न दिखाई कि पहुँच की रसीद तो भेज देता।

बोली का जन्म, उसकी हिस्ट्री, बोलियों के बनने, बढ़ने और मरने के असूल जो इस किताब में दर्ज हैं वह सब मैंने यूरपी माहिरों की किताबों में से लिये हैं। पच्छिम में, ख़ास कर इस सदी में, इल्म ज़बान ने बहुत तरक्क़ी की है। उन की किताबें पढ़कर ऐसा मालूम होता है कि उन्होंने दुनिया की सारी बोलियां मरी और जीती, जो उनके हाथ लगीं, सबकी छान बीन की है। इस छान बीन के बाद उन्होंने कुछ ऐसे नियम बनाए हैं जिनसे हम जांच सकें कि कौन सी लिखावट, कौन शब्द, कौन बोली अच्छी है और कौन बुरी। मुझे वह नियम ठीक जंचे। मुमकिन है आपको भी ठीक मालूम

हों। शुरू शुरू में शायद वह अखरें। मुझे तो अखरे थे, लेकिन जितना उन पर ग़ौर किया उतने ही वह ठीक जंचे।

उरदू की एडीशन और इस एडीशन में भाषा का बहुत फ़रक़ नहीं। हां, नाम ज़बान की जगह भाषा रखा गया है। कुछ मामूली काट छांट के सिवा पाँच नये बाब इस हिन्दी एडीशन में बढ़ाए गये हैं। (१) हिज्जे (२) ताना बाना और बुनावट (३) संस्कृत (४) हिन्दी और पंजाबी (५) ख़ालिस बोली—खिचड़ी बोली और बोली की दीवार। हिज्जों, ताने बाने और बुनावट के नियम तो मैंने अंगरेज़ी किताबों से नक़ल किये। संस्कृत की बाबत जो बातें हाल में ही मालूम हुई हैं उनकी बिना पर संस्कृत का बाब लिखा गया है। जितनी ग़लत तालीम हमारे स्कूलों में संस्कृत की बाबत दी जाती है शायद ही किसी और मज़मून पर दी जाती हो।

—मदनगोपाल

बोली का जन्म और उसकी क़िस्में

दुनिया में बोली कैसे पैदा हुई यह उन दिलचस्प मज़ामूनों में से है जिन पर हिन्दुस्तानी में कोई किताब नहीं छपी और उम्मीद नहीं कि हाल में छपे क्योंकि इसका वास्ता है इल्म से और इल्म और ऐतक़ाद (विश्वास) का सदा से बैर चला आता है। यहां यह ख़याल आम है कि भाषा ईश्वर की देन है जब कि यूरप के विद्वानों ने यह साबित कर दिया है कि बोली आदमी ने आप बनाई है. शब्द बनने किस तरह शुरू हुए एक लम्बी कहानी है जिस के कुछ हिस्सों का इल्म हमें दुनिया की मुख़तलिफ़ ज़बानों के पढ़ने से मिला है और बाकी हिस्सों की बाबत तो अभी तक क़यास ही किया जाता है।

इस में शक नहीं कि जैसे खेती बाड़ी में आदमी ने पहले काटना और फिर बोना सीखा, इसी तरह वह पहले बोली समझना सीखा। सैकड़ों शायद हज़ारों बरस बाद आदमी को यह बात सूझी होगी कि वह शब्द बना भी सकता है। शुरू में किस तरह शब्द बिना सोचे समझे बन गए एक निहायत दिलचस्प कहानी है। पच्छिमी विद्वानों का यह ख़याल ठीक मालूम होता है कि जैसे अदब (साहित्य) नज़्म (पद्य) से शुरू होता है नसर (गद्य) बाद में आती है, उसी तरह शब्द बाद में हुए, शुरू में सुर और ताल, यानी आदमी ने पहले गाना पीछे बोलना सीखा।

अरबी और संस्कृत के अलावा लातीनी, यूनानी, यहूदी और चीनी को भी ख़ुदाई ज़बान होने का दावा है। मुमकिन है कुछ और पुरानी ज़बानें भी यह दावा करती हों। संस्कृत के असली माइने हैं साफ़ शुद्ध की हुई यानी जो आप मानती है कि मैं बनाई हुई हूं और जो दूसरी बोलियों को प्राकृत यानी क़ुदरती कहती है। संस्कृत बनाई गई वैदिक से। इस

वैदिक ने भी कभी खुदाई होने का दावा नहीं किया। अलबत्ता वेद मंत्रों को देवबानी ज़रूर कहा है। जब तक आग बनानी और रखनी नहीं आई आग भी दूसरे देवताओं की तरह पुजती रही। जब उसे रखना आ गया तो यह दोस्त देवता हो गई जिसके ज़रिये से और देवताओं को बुला कर खुश कर सकते थे। तीन चार हज़ार बरस हुए कुछ मंत्र इन देवताओं को बुलाने के लिये बनाए गए थे जिन के मजमूए को वेद कहते हैं। अगर यह मंत्र ठीक सुर ताल से गाए जाएं तो देवता खुश होते थे और अगर गाने में ज़रा भी ग़लती हो जाए तो खफ़ा हो जाते थे। यह खयाल ठीक था या ग़लत इस पर बहस करने की ज़रूरत नहीं लेकिन शायद इससे यह फ़ायदा हुआ कि यह मंत्र अब तक उसी तरह गाए जाते हैं जिस तरह शुरू में गाये जाते थे और इसलिये शायद वैदिक ही एक ऐसी ज़बान है जिसकी बाबत कहा जा सकता है कि तीन चार हज़ार बरस पहले इसके शब्दों की क्या आवाज़ थी। और पुरानी ज़बानों का तो क्या कहना। आज कल की किसी ज़बान की बाबत भी यह कोई नहीं कह सकता कि सौ दो सौ बरस पहले वह किस तरह बोली जाती थी। दूर क्यों जाओ जिसे उरदू में देहली और अंगरेज़ी में डिलही लिखा जाता है वहां के लोग उसे दिल्ली पुकारते हैं। अब चूँकि आवाज़ भी बन्द की जा सकती है आने वाली नसलों को यह तकलीफ़ न होगी।

जहां तक मुझे याद है क़ुरान में अरबी के खुदाई होने का दावा नहीं किया गया। आज कल यह खयाल आम है कि खुदा सब बोलियां जानता है, इसलिये क़ुदरतन वह मुहम्मद साहब से उसी बोली में बोला जो मुहम्मद साहब की थी। इसलिये सिर्फ़ यह बात कि क़ुरान अरबी में नाज़ल हुआ इस बात का सबूत नहीं हो सकती कि अरबी खुदाई ज़बान है।

मैंने संस्कृत और अरबी का खास ज़िकर इसलिये किया क्योंकि बहुत से हिन्दुस्तानी संस्कृत को और बहुत से अरबी को खुदाई ज़बान समझकर

इन ज़बानों के शब्दों की हमारी ज़बान में भरमार करना पुन्य समझते हैं। आज कल ईसाइयत ने हमारे धर्मों पर इतना ज़ोर डाला है कि हमारे ख़ुदा ने ही ईसाई ख़ुदा का भेस अख़्तियार नहीं किया बल्कि हमारे दिलों में यह उमंग पैदा कर दी कि हम अपनी धर्मी किताबों के तरजुमे छापें। अगरचे तरजुमे छपने लगे हैं पूजा पाठ अभी तक संस्कृत या अरबी में ही होता है। मुमकिन है दस बीस बरसों में हमें अक़ल आ जाए और हम भी ईसाइयों की तरह अपने पिता से अपनी अपनी बोली में भीक मांगा करें। जब यह शुभ दिन आयगा, और यह जल्द आयगा, संस्कृत और अरबी का जुवा जो मुद्दत से हमारी गरदन पर सवार है आप ही आप टूट कर गिर पड़ेगा।

ऐसा कोई देस नहीं जहां इस क़िसम की कहानियां आम न हों कि एक ज़माना था जब आदमी जानवरों की बोली समझता ही न था बोल भी सकता था। इन कहानियों में कुछ सचाई है। यह उस ज़माने की यादगार हैं जब शब्द अभी पैदा नहीं हुए थे और आदमी भी एक पशु था जो आवाज़ से अपने पशु भाव जैसे ख़ुशी, रंज, गुस्सा, डर आदि ज़ाहिर कर सकता था और उसे अपने बचाव के लिये ज़रूरी था कि वह जानवरों की आवाज़ में भी यह भाव समझ सके। अब भी जितनी क़ौमें जंगल में रहती हैं वह जानवरों की इतनी बोली समझ लेती हैं। ख़याल किया जाता है कि आदमी पचास हज़ार बरस हुए मध्य एशिया में पैदा हुआ था। शुरू के आदमी और बन्दर में फ़रक़ सिर्फ़ इतना था कि आदमी खड़ा होकर चलना सीख रहा था। जब उसे सीधा चलने की काफ़ी महारत हो गई, उसे थोड़ा सा बोलना भी आगया। कुछ विद्वानों की यह राय है कि आदमी की सारी तरक्की की जड़ है यह बोली। बन्दर की नक़ाली मशहूर है। इनसान को यह पर लगे कि परिन्दों की तरह वह भी दो टँगा हो कर परिन्दों की तरह सीटियाँ बजाने और गाने लगा और और जानवरों और और आवाज़ों की नक़ल करने लगा। यह तो मालूम है कि बिलकुल सीधा खड़ा होकर चलना

तो उसने सैकड़ों बरसों में सीखा था। यह ख़याल किया जाता है कि औरों की आवाज़ों की नक़ल करने में भी उसे सैकड़ों बरस लगे होंगे।

दुनिया की सारी ज़बानों की जाँच पड़ताल करने पर पच्छिमी विद्वानों ने यह नतीजा निकाला है कि ज़बानों की बारह क़िसमें ऐसी हैं जिनका आपस में कोई वास्ता नहीं मालूम होता। मुमकिन है कि ज़्यादा देख भाल करने से इन क़िसमों की गिनती कम या ज़्यादा हो जाए। इन क़िसमों से दो नतीजे निकाले जा सकते हैं। एक तो यह कि शुरू में आदमी अलग अलग देसों में पैदा हुए, या यह कि आदमी ने बोलना नहीं सीखा था जब ख़ूराक की तलाश में उस के गिरोह दूर दूर मुल्कों में जा बसे और हर एक गिरोह ने अपनी अपनी बोली बनाई। दूसरा ख़याल ज़्यादा ठीक मालूम होता है। यह हो सकता है कि कुछ ऐसे भी गिरोह हुए हों जिनकी बोली का हमें इल्म ही नहीं क्योंकि उनका बीज ही नहीं रहा।

जिस क़िसम में से हमारी बोली निकली है उसे हिन्द-यूरपी कहते हैं। इसकी दो शाखें हैं। जिस शाख में से हमारी बोली निकली उसे हिन्द आर्यी कहते हैं इसमें से निकली पुरानी यानी वैदिक संस्कृत और पुरानी ईरानी। पुरानी ईरानी में से निकली ज़िन्द और पुरानी फ़ारसी। इस फ़ारसी में से पैदा हुई आजकल की ईरानी। वैदिक संस्कृत से निकलीं पैशाची और संस्कृत। वैदिक और हिन्द की बोलियों के मेल से पैदा हुईं बहुत सी प्राकृतें। आजकल की हिन्दुस्तानी, पंजाबी, बंगला, गुजराती, मरहटी, सिंधी और यू पी की सारी बोलियाँ इन प्राकृतों की नसल में से हैं।

दूसरी क़िसम को सेमिटिक कहते हैं जिसमें से अरबी यहूदी वग़ैरा निकली हैं। बाज़ भाषा विद्वानों का ख़याल है कि सेमिटिक और हिन्द यूरपी एक ही मां या मासियों की औलाद हैं लेकिन अकसर विद्वानों की राय इसके ख़िलाफ़ है।

तीसरी क़िस्म को द्रविड़ कहते हैं जिस की नसल में से तामिल तेलगू, कन्नड़ वगैरा निकली हैं जो सूबा मदरास में बोली जाती हैं। बाज़ आदमियों की यह राय है कि आर्यों के हिन्दुस्तान में आने से पहले उत्तर हिन्दुस्तान के रहने वालों की ज़बान द्रविड़ थी। संथालों, भीलों वगैरा की ज़बान से इस राय का समर्थन होता है। लेकिन जिन लोगों ने यह राय बनाई थी उन्हें मोहनजोदड़ो का हाल मालूम ही न था। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जो खंडहर निकले हैं उन से यह साबित हो गया है कि आज से पांच हज़ार बरस पहले सिंध पंजाब ने खेती बाड़ी में और शहर बनाने के हुनर में इतनी तरक्की करली थी कि शहरों में ज़मीन के नीचे नीचे पानी निकालने की बड़ी बड़ी नालियां निकाली जाती थीं। आर्यों को हिन्दुस्तान में आए हुए अभी चार हज़ार बरस नहीं हुए। वेद मंत्रों से दो बातें साबित हैं। एक तो यह कि जब वह आए थे ख़ानाबदोश चरवाहे थे। खेती बाड़ी उन्होंने यहां आकर सीखी। दूसरी यह कि पहले पहल वह यू पी में आए क्योंकि शुरू के मंत्रों में गंगा जमना और सरस्वती के ही गीत गाए गए हैं। सिंध पंजाब में पांच हज़ार बरस हुए क्या ज़बान बोली जाती थी उस का, जहां तक मुझे इल्म है, अभी तक कोई पता नहीं चला। लेकिन मुझे इस में शक नहीं कि वह द्रविड़ नहीं थी क्योंकि द्रविड़ का संस्कृत पर और न संस्कृत का द्रविड़ पर कोई असर मालूम होता है। यह मुमकिन नहीं कि एक लायक़ क़ौम का एक ताकतवर क़ौम से मुक़ाबला और मेल हो और एक दूसरे की ज़बान पर गहरा रंग न जमाएं। ऐसा मालूम होता है कि यू पी में तब बिलकुल जंगली शायद द्रविड़ लोग बसते थे। उस ज़माने में आबादी ही नहीं रोशनी भी सिर्फ दरियाओं के किनारे किनारे फैलती थी।

उरदू के हरफ़ 'ड़े' की आवाज जिसे हिन्दी वाले 'ड' के नीचे बिन्दी लगाकर दिखाते हैं न संस्कृत में है, न बंगला में और न किसी द्रविड़ ज़बान में। जहां तक मैं दरियाफ़्त कर सका हूं यह आवाज़ किसी और एशियाई

ज़बान में नहीं पाई जाती। हमारी ज़बान में सैकड़ों ऐसे शब्द हैं जिनमें 'ड़' आता है। इसलिये भी मेरा यह ख़याल है कि जो क़ौम सिंध पंजाब में आर्यों के आने से पहले बसती थी वह द्रविड़ नहीं हो सकती। बदक़िस्मती से यह मेरी अपनी राय है। पता नहीं कहां तक दुरुस्त है। जहां तक मुझे इल्म है किसी भाषा विद्वान ने इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया। सिंधी में दो बिन्दी वाली 'बे' होती है। अगरचे यह 'बे' पंजाबी में नहीं इसकी आवाज़ मुलतानी में कुछ कुछ मिलती है। यह आवाज़ किसी हिन्दुस्तानी ज़बान में नहीं है और जहां तक मैं दरियाफ़्त कर सका हूं न किसी और एशियाई ज़बान में। इस से मैं यह नतीजा निकालता हूँ कि जो लोग सिंध पंजाब में आर्यों के आने से पहले बसते थे उन में यह 'ड़े' की आवाज़ और दो बिन्दी वाली 'बे' की आवाज़ आम थी। अब यह आवाज़ें और चन्द खंडहर ही हमारी पुरानी ऊँची सभ्यता की यादगार रह गए हैं।

चौथी क़िसम को मंगोलियन कहते हैं। उस में से चीनी, जापानी, बरमी और तिब्बती निकली हैं। हिन्दुस्तान में नैपाली, लाहौली इस में से पैदा हुई हैं। बाक़ी आठ क़िसमों की बाबत लिखने की ज़रूरत नहीं क्योंकि हमारा उनसे कोई वास्ता नहीं।

ज़बानों की यह छोटी सी कहानी मैंने इसलिये दर्ज की है कि उन झूटे ग़लत ख़यालों को दूर करूं जो पादरियों (मौलवियों और पंडितों) ने अपना सिक्का जमाने के लिये या नादानी से फैलाए हैं। पहले हिन्दुओं को ही लीजिये। उनका यह ख़याल है कि वह आर्यों की सन्तान हैं। यह तो साफ़ है कि जो आर्य यहां आए उनकी गिनती यहां के असली रहने वालों के मुक़ाबले में आटे में नमक से ज़्यादा न होगी। आर्यों के बाद बहुत सी क़ौमें गूजर, जाट, राजपूत आदि यहां आकर बसे। उनका भी अंश हमारे ख़ून में ज़रूर आया होगा। बहरहाल उन का यह ख़याल कि इनसान की पहली ज़बान जिसे वह ब्रह्मा की ज़बान समझते हैं संस्कृत थी और संस्कृत भी वह जिस की पानिनी ने व्याकरन बनाई, सरासर ग़लत है।

यहूदियों, ईसाइयों और मुसलमानों का ख़याल है कि जब ख़ुदा ने आदम को पैदा किया तो उसे सिर्फ़ अपनी शकल ही नहीं बख़्शी बल्कि हर जानवर और चीज़ उसके सामने पेश की ताकि वह उनके नाम रखे और यह हुकुम दिया कि जो नाम आदम रखेगा वही उन का नाम रहेगा। ऐसा मालूम होता है कि शैतान ने ख़ुदा का हुकुम न चलने दिया। यहूदी कहते हैं कि आदम की जबान यहूदी थी। मुसलमान कहते हैं अरबी। इस कहानी से बहरहाल एक बात साबित होती है कि ज़बान ख़ुदा ने नहीं गढ़ी आदम ने गढ़ी थी। यहूदियों और ईसाइयों का यह ख़याल है कि जब ईसा पैदा हुए थे तो दुनिया को बने कुल ३७५० बरस हुए थे। मुसलमानों का ख़याल है कि दुनिया सिर्फ़ ५५०६ बरस हिजरी से पहले पैदा हुई थी। हालांकि दुनिया को सूरज से निकले तक़रीबन बीस अरब बरस हो चुके हैं और जान को दुनिया में पैदा हुए दस अरब और आदमी को बन्दर से अलग हुए पचास हज़ार बरस गुज़र चुके हैं। पहले दस हज़ार बरस तो आदमी को शब्द बनाने की सूझी भी न होगी और वह अपने भावों को नाचने और गाने से अदा करता होगा। पेट भरने के सिवा उसे कुछ काम न था। शब्द तो वक्त बचाने के लिये बनाने पड़ते है। वहां फ़ुरसत ही फ़ुरसत थी। जिन्सी (सेक्सुअल) भूक के लिये जब परिन्दे इतना गाते नाचते हैं तो आदमी जितना गाए नाचे थोड़ा।

ज़बान की बाबत जितने ग़लत ख़याल हैं उन की जड़ में एक तो यह तवारीख़ी लाइल्मी है। दूसरा यह भाव कि मेरे बड़े बहुत लायक़ थे। पुश्तों से बूढ़े अपनी बड़ाई जताने के लिये यह ख़याल भोले बच्चों के कानों में डालते रहे हैं, यहां तक कि अकसर आदमियों के मन में यह बात जम है कि उस के बुज़ुर्ग नेकी और इल्म के फ़रिश्ते थे और अब हम उनकी औलाद निकम्मे हैं।

जिस तरह हर अदब (साहित्य) में पहले नज़्म (पद्य) फिर नसर (गद्य) उसी तरह शुरू में शब्दों की जगह दिल का जोश निकालने के

लिये पहले राग पैदा हुआ। यह ज़रूरी नहीं कि दूसरा समझे या न समझे। वक़्त की कमी न थी। जितना गाओ और गला फाड़ के गाओ बुरा नहीं अच्छा गिना जाता था। शुरू में गाना ज़्यादातर औरत को खुश करने और फुसलाने की तरकीब थी। लेकिन जब आदमी गिरोहों में रहने लगे तो गाने के और भी मौक़े पैदा हो गए। मसलन अगर वह मिलकर किसी दुशमन को मारने या भगाने में कामयाब हो गए तो इस ख़ुशी में उसने नाचना गाना शुरू कर दिया। जो सुर या आवाज़ ऐसे वक़्त निकली उसके माइने ही आहिस्ते आहिस्ते यह हो गए कि हमने उस दुशमन को मार भगाया। जब कोई शिकार मारा तो उसकी ख़ुशी में और गीत बनाया गया। अलग अलग मौक़ों के लिये अलग अलग राग बन गए। यह ही वजह है कि जो सबसे पहले लेख मिले हैं वह तसवीरी हैं यानी जो बात बतानी थी वह शब्दों की जगह तसवीर से बताई गई है। साथ ही साथ आवाज़ों की नक़ल कर कर के कुछ शब्द भी बनने शुरू हो गए। जैसे भौं भौं कुत्ते के लिये, म्याऊं म्याऊं बिल्ली के लिये। इसी तरह बादल की गरज, बिजली की कड़क, चिड़िया,सांप, कौवा आदि। साथ ही साथ गानों और नाचों की क़िसमें और तरतीबें मुक़र्रर हो गईं जिन्हें याद करना ज़रूरी हो गया। और साथ ही साथ अपने गिरोह के हर आदमी की पहचान याद रखनी लाज़मी ठहरा। जितना गिरोह बढ़ता गया आदमी का हाफ़ज़ा (याद रखने की ताक़त) बढ़ता गया।

इस हाफ़ज़े से पैदा हुआ सुपना, सुपने से पैदा हुआ मज़हब (धर्म), मज़हब से पैदा हुआ जादू और जादू ने पैदा किये शब्द। यह कहानी बड़ी लम्बी है। अगर आप पूरी तरह जानना चाहते हैं तो अंगरेज़ी में इस पर बहुत किताबें हैं, उन्हें पढ़िये। इसका निचोड़ यह है कि जब मरे हुए भी सुपनों में जीते दिखाई देने और बातचीत करने लगे तो ख़याल पैदा हुआ कि सिर्फ़ आदमी का जिसम मर जाता है उसकी रूह (आत्मा) ज़िन्दा रहती है। मज़हब के माइने ही हैं रूह का इल्म। सुपने में दोस्त ही

नहीं दुशमन भी आते हैं और बाज़ दफ़ा दुशमन भी दोस्त का रूप धर कर आते हैं इसलिये उनका इलाज ज़रूरी है। इस इलाज का ही नाम है जादू। जादू के लिये दुशमन का नाम जानना ज़रूरी है। नाम रखना यानी शब्द बनाना इनसान ने इस तरह सीखा। अथर्व वेद में एक रिशी का कहना है, "ऐ बुख़ार मैं तुझे मार कर छोड़ूंगा, मैं तेरा नाम जानता हूँ।" यानी मारने के लिये नाम जानना ज़रूरी है। यह नाम का जादू अब भी बड़े ज़ोरों पर है। अगर हम किसी मामूली बीमारी के लिये किसी वैद या डाक्टर को बुलाएं और वह उस रोग का कोई लम्बा चौड़ा बिदेसी या मरी हुई भाषा में नाम ले तो हमें यक़ीन हो जाता है कि अब हम अच्छे हो जायंगे, अब बीमारी का ठीक पता लग गया है। यही वजह है कि मुशकिल शब्द हिकमत में ही नहीं बल्कि कुछ और पेशों में भी लाज़मी समझे जाते हैं। जादू टोने का तो खेल ही निराला है। और तो और नज़म (पद्य) में ही सिर्फ़ नहीं नसर (गद्य) में भी जादू बयानी के लिये मुशकिल शब्दों का जोड़ना ज़रूरी समझा जाता है।

डिक्शनरी (कोश), वोकैबुलरी (बोल माला)

जब आदमी को शब्द बनाने आगए तो वह आहिस्ता आहिस्ता जैसे ज़रूरत पड़ी शब्द बनाने लगा। शब्द बनाना और ऐसा बनाना जो और मान लें आसान काम नहीं। किसी चीज़ का नाम रखने से पहले यह ज़रूरी है कि उस चीज़ का अक्स हमारे मन में अच्छी तरह जम जाए। उन चीज़ों के जिनमें से आवाज़ निकलती है और जिन का अक्स भी हमारे मन में उनकी आवाज़ होती है नाम रखना तो आसान है। जैसे कव्वे की कां कां से पंजाबी में कव्वे को कां कहते हैं जो हेर फेर कर हिन्दी में काग हो गया और हिन्दुस्तानी में कव्वा। इन शब्दों को गुम्बदी शब्द कहा जाता है। हमारी ज़बान में भी बहुत से गुम्बदी शब्द हैं जैसे धकधक, टिक टिक, हंस, रो, शेर की धाड़, कोयल की कूक, पांव की चाप, आहट, खड़का वग़ैरा। उन चीज़ों का नाम रखना जिन में से कोई आवाज़ नहीं निकलती और जिनका अक्स हमारे मन में देखने चखने या सूंघने से पैदा होता है आसान काम नहीं। शुरू में ऐसी चीज़ों को भी ठोक पीट कर उन में से जो आवाज़ निकली उस पर रखा गया। जहां यह भी न हो सका वहां गुम्बदी शब्दों के हेर फेर से नये शब्द बनाए गए। यह सब कल्पना के खेल थे या यूं कहिये यह शब्द ही पोइटरी (कविता) थे।

अब भी आदमी का सब से बड़ा दुशमन आदमी है। शुरू में हर आदमी हर आदमी का नहीं तो हर क़बीला दूसरे कबीले का दुशमन था। इसलिये एक दूसरे से मिलते जुलते न थे। हर एक गिरोह ने अपनी अपनी ज़रूरत और लियाक़त के अनुसार अलग अलग शब्द बनाए। मेल जोल आपस में जितना बढ़े उतनी ही तरक्की होती है। सभा के फैलने

डिक्शनरी (कोश) बोकैबुलरी (बोलमाला) से ही सभ्यता बढ़ती है। पहले कुनबा, फिर गरोह, फिर क़बीला, फिर जात, फिर देस और फिर सारी दुनिया।

जब अलग अलग गिरोहों के मिलाप से क़बीला बना तो जो मिली जुली ज़बान इस मेल से पैदा हुई उस में एक ही चीज़ के लिये एक से ज़्यादा शब्द आगए। अगर एक गिरोह ज़्यादा ताक़तवर था तो उस के शब्दों ने कमज़ोर गिरोहों के शब्दों को या तो निकाल मारा या उनका भी इस्तेमाल जारी रखा। दूसरी हालत में एक ही चीज़ के एक से ज़्यादा नाम हो गए। अगर लय और तुक की शायरी का रोग न लगे और इलमियत का शौक पैदा हो जाए तो वह शब्द जो सब से आसान हो जीता रहता है और उस से मुश्किल मर जाते हैं। आसान वह है जिस के बोलने और समझने में कम तकलीफ़ हो। इल्म यानी साइन्स का शौक़ पिछली एक दो सदी में ही ज़ोर पकड़ने लगा है। इस में शक नहीं कि इस का बीज आठवीं नवीं सदी में इसलाम ने ही बोना शुरू किया था लेकिन चूंकि उस के नतीजे उन दिनों के मज़हबों को झुटलाते थे इसलिये इसलामी व दूसरे पादरियों ने उसे सदियों तक फलने फूलने न दिया।

हकूमत और व्योपार के लिये आस पास के मुल्कों की और बाद में बतौर यात्री दूर दूर के मुल्कों की ज़बान इनसान को सीखनी पड़ी। अलग अलग ज़बानों को समझ सकना और बोल सकना ही इनसान की लियाक़त परखने का पैमाना समझा जाने लगा। और शायरी में देस देस के शब्दों की भरमार होने लगी। नतीजा यह कि हर बढ़ती क़ौम की ज़बान में बहुत से भरती के शब्द (यानी ऐसे शब्द जिनकी उस ज़बान को ज़रूरत न थी) शामिल कर लिये गए। जितने शब्द किसी ज़बान में काम में आते हैं उन की सूची को डिक्शनरी (फ़रहंग लुग़त, कोश) कहते हैं। जितने बड़े रकबे में कोई ज़बान बोली जाती है उतनी ही उसकी डिक्शनरी बड़ी होती है। पहली ज़बानों की डिक्शनरी में अकसर शब्द तो भरती के ही हुआ करते थे। मसलन

अरबी में शेर के ५० नाम हैं, सांप के २००, शहद के ८० और पत्थर के ७०। यह ही हाल बहुत कुछ संस्कृत का है। हमारी ज़बान में भी भरती के शब्द बहुत हैं। बाप के लिये ही सात शब्द हैं और अब तो फ़ादर और डैडी भी इस्तेमाल होने लगे हैं। मैं डिक्शनरी के शब्द को लुग़त या कोश से ज्यादा खुले माइनों में इस्तेमाल करता हूं। मैं डिक्शनरी में वह सारे शब्द गिनता हूं जो उस ज़बान के बोलने वाले अपनी ज़बान में लिखने या बोलने में बरतते हैं चाहे वह छपे हुए कोश में दर्ज हों या न हों। यह कहना कि यह शब्द ग़लत है, यह दुरुस्त है ठीक नहीं। क्योंकि जो शब्द आज ग़लत समझा जाता हैं मुमकिन है कल वही दुरुस्त समझा जाए। जिस देस में इल्म आम होना शुरू हो जाए उस में भरती के शब्द आप ही आप गुम होने लगते हैं। भरती के शब्दों का कम होना ही उस ज़बान या मुल्क की विद्या का एक पैमाना है। बहुत से आदमियों का यह ख़याल है कि जितने ज़्यादा भरती के शब्द किसी ज़बान में हों उतनी ही वह ज़बान अमीर है। यह उन की भूल है। भरती के शब्दों का होना सरासर उस मुल्क की कम-इलमी की निशानी है।

अन्दाज़ा लगाया गया है कि एक अनपढ़ अंगरेज़ को तीन सौ से ज़्यादा शब्द नहीं आते। वह इन ही तीन सौ शब्दों से अपना सारा काम धन्दा चला लेता है। जहाँ तक मुझे इल्म है किसी ने किसी हिन्दुस्तानी अनपढ़ की बोल-माला की पड़ताल नहीं की। वह भी तीन एक सौ शब्दों से ही गुज़ारा करता होगा। हर एक आदमी की बोल-माला (जिसे अंगरेज़ी में वोकैबुलरी कहते हैं) अलग अलग होती है। कोई नहीं कह सकता कि उस के दिमाग़ी पल्ले मे कितने शब्द बंधे हुए हैं।

मसलन छोटे लोटे को हम लुटिया कहते हैं। अगरचे छोटी नदी को नदिया नहीं कहा जाता लेकिन अगर कोई आदमी कहे तो दूसरा उस का मतलब झट समझ जाएगा। इसलिये नदिया भी हमारी वोकैबुलरी का एक हिस्सा है। इसी तरह लौंडिया, बिटिया और ऐसे बहुत से जड़े हुए

शब्द हैं जो हम आम तौर पर बरतते न हों लेकिन जिन्हें हम ज़रूरत पड़े तो बरत सकते हैं।

मामूली बात चीत, काम काज के लिये अच्छे खासे पढ़े हुए आदमी के लिये छै सात सौ शब्दों से ज़्यादा की ज़रूरत नहीं होती। अगर कोई ज़्यादा बरतता है तो बनता है। इल्मी बहस का मामला और है। यह तो साफ़ है कि अगर कोई आदमी एक से ज़्यादा ज़बान बोलता है तो जितनी ज़बानें वह बोलता है उतने ही छै सात सौ शब्दों के जोड़े इस्तेमाल करता है। हर जोड़े में उसकी वोकैबुलरी (बोलमाला) नहीं बढ़ी बल्कि वोकैबुलरी के जोड़े बढ़े। सिर्फ़ अलग अलग ज़बानों की सूरत में ही नहीं बल्कि एक ज़बान के दो अलग अलग दरजों की सूरत में भी वोकैबुलरी (बोलमाला) की जगह उस के जोड़े बढ़ते हैं। जैसे हमारे मुल्क में एक शहरी ज़बान है और एक देहाती ज़बान। आपस में जब शहरी बातें करेंगे तो एक जोड़े से काम लेंगे और जब वह किसी देहाती से बात करेंगे तो दूसरे जोड़े से। इस में शक नहीं कि इन दोनों जोड़ों में बहुत से शब्द मिले जुले होंगे।

वोकैबुलरी (बोलमाला) शब्द दो अलग अलग माइनों में बरता जाता है। एक तो शब्दों की गिनती जो एक आदमी इस्तेमाल करता है। दूसरी उन अक्सों की गिनती जिन के लिये वह शब्द इस्तेमाल करता है। मैं अक्सों की गिनती को अक्समाला और शब्दों की गिनती को नाममाला कहता हूं। नाममाला के बढ़ने से अक़ल नहीं बढ़ती। अक़ल बढ़ती है अक्समाला के बढ़ने से, और विद्या बढ़ती है उन अक्सों को तरतीब देने से।

लिखने वालों की वोकैबुलरी (बोलमाला) का मामला ही और है। अगर वह कोई इल्मी किताब लिख रहे हैं तो उन्हें वह ख़ास शब्द जिनका उस इल्म से वास्ता है लिखते पड़ते हैं। अगर वह इल्म दूसरे मुल्क से

आया है तो उस इल्म के शब्दों के लिये या तो नए शब्द बनाने पड़ते हैं या दूसरी ज़बान से लेने पड़ते हैं। अच्छा तो यह है कि दूसरी ज़बान से ही लिये जाएं। अगर हिन्दुस्तानी गलों से आसानी से न निकलते हों तो उन्हें ज़रा हिन्दिया लिया जाए ताकि हम आसानी से बोल सकें। जिसे आम तौर पर साहित्य कहा जाता है उस का खेल ही निराला है। उस में बहुत से शब्द तो भरती के होते हैं जो लिखने वाला अपनी लियाक़त दिखाने के लिये जड़ता है और जितना मुशकिल कहे उतनी ही उस की महिमा होती है। सोचो तो सही जो कान को श्रवणेन्द्रिय कहे उसे क्या कहा जाए। नतीजा यह कि हमें बहुत से शब्द ऐसे सीखने पड़ते हैं जिन की ज़रूरत भी नहीं होती और जो अकसर ऐसे होते हैं कि उन्हें न अच्छी तरह से लिखने वाला समझता है न पढ़ने वाला। जैसे हज़ार- दास्तान (बुलबुल), पपीहा, इतना जानते हैं कि परिन्दे हैं। किस रंग के, क्या शकल है, कुछ धुंधला अक्स भी नहीं। कुछ ऐसे भी हैं जो केवल धोके की टट्टी हैं। ख़िज़ां जिसे हिन्दी में पतझड़ का मौसम कहते हैं सर्द मुल्कों में अक्तूबर नवम्बर में होती है। हिन्दुस्तान में बहार में होती है। जो हिन्दुस्तानी बहार को सराहे और पतझड़ को बुरा कहे उस हिन्दुस्तानी को क्या कहा जाए।

हमारी किसमत देखो, जो किताबें स्कूलों के लिये हमारे महकमा तालीम और युनीवरसिटियाँ चुनती हैं उन में भरती के शब्दों की भरमार होती है। हमारी नाममाला बढ़ाई जाती है अक्समाला नहीं। किसी स्कूल में चले जाओ मजाल है जो लड़कों को उन दरख़्तों के नाम भी आते हों जो स्कूल के अहाते में खड़े हैं। वहां के फूल पात और रंगबिरंगी चिड़ियों का तो क्या कहना। जैसे मैं पहले लिख आया हूं अकल बढ़ती है अक्सों के बढ़ने से। हमारे स्कूलों में अकल सिखाने की जगह हमें शब्द सिखाए जाते हैं ताकि हम अच्छे क्लर्क हो जाएँ। हमारे देस में भाषा की बढ़-वार नहीं शब्दों की बढ़वार हो रही है।

हरफ़ अक्षर

यह एक अनोखी सी बात मालूम होती है कि शुरू में आदमी ने कोई चीज़ कितनी ही मेहनत और हेर फेर के बाद बनाई हो कुछ सदियों के बाद उस की बाबत यह मशहूर किया जाता है कि वह चीज़ ईश्वर ने आप अपने हाथों से रचकर इनसान को बख़्शी है। जैसे पहले बाब में बयान किया गया है कि बहुत सी भाषाओं ने ईश्वरी भाषा होने का दावा किया है। इसी तरह से बहुत सी लिखावटों की बाबत यह कहा जाता है कि वह ईश्वर या देवताओं ने बनाई हैं और उन्हें छोड़ना या उन में कोई तबदीली करना पाप है। यहूदियों का विश्वास है कि यहूदी लिखावट ख़ुदा ने हज़रत मूसा को सिखाई। मिस्री कहते थे कि उन की लिखावट उन के देवता थोथ की रची है। यूनानी कहते थे कि उन की लिखावट उनके देवता कैडमस ने बनाई। देवनागरी का नाम ही बताए देता है कि यह लिखावट देवताओं के घर से आई है। इसी तरह गुरमुखी के माइने हैं गुरू के मुख से निकली हुई। बानी या शब्द तो गुरू के मुंह से निकल सकते थे, समझ में नहीं आता हरफ़ों की शकल मुंह से कैसे निकल सकती थी। यह तो हैं सब मनगढ़ंत कहानियां जो सब मतों के पादरियों ने अपनी अपनी बड़ाई जताने के लिए गढ़ी हैं।

हरफ़ बनाए गए हैं अक्सी तसवीरों को छोटा करके। गो यह अक्सी तस्वीरें भी शुरू में लफ़्ज़ों की तरह जादू टोने के लिये बनाई गई थीं; हरफ़ों के बनाने में जादू टोने को दख़ल नहीं। हरफ़ बनाए गए थे ब्योपार की ज़रूरतों को पूरा करने के लिये। जहां ब्योपार फैला और दूर दूर मुल्कों में गुमाश्ते भेजने पड़े वहां आपस में चिट्ठी पत्री लिखने के लिये अक्सी तस्वीरों को छोटा करने यानी हरफ़ बनाने की ज़रूरत पड़ी। यही कारन है कि जो हरफ़ पहले पहल बने थे वह

फ़िनिशियों ने बनाए थे जो पहले सौदागर हुए हैं जिनका बनज ब्योहार दूर दूर के देसों में फैला हुआ था। यह बात ध्यान देने की है कि उन की अक्षर-माला में कुल २२ अक्षर थे।

यूरप और एशिया की जितनी लिखावटें हैं (सिवाय चीनी और जापानी के) वह सब इस फ़िनिशियन लिखावट से निकली हैं चाहे कोई बाईं तरफ से लिखी जाए या दाईं तरफ़ से। किस तरह और क्यों फ़िनि-शियन हरफ़ों की शकल और देसों में जा कर बदली एक अजब लम्बी कहानी है जिस को पूरी तरह पर शायद वह ही समझ सकता है जिसने पुरानी हरफ़ मालाएं सीखी हों। यूरपी माहिरों ने इन सब हरफ़मालाओं के निकास और विकास पर बहुत कुछ रोशनी डाली है। बहरहाल अरबी, देवनागरी, गुरमुखी वगैरा का यह दावा कि यह सब से पहली या देवताओं की बनाई हुई हैं सरासर ग़लत है। हिंदुस्तान में देवनागरी से पहले बहुत सी हरफ़मालाएं बन चुकी थीं। हमारी आजकल की तरह तरह की हरफ़-मालाएं इस बात की गवाह हैं। यह ठीक कि उन में से कुछ उस के बाद बनीं लेकिन उन की आज कल की शकलें साफ़ कह रही हैं कि वह भी किसी और पुरानी हरफ़माला में से निकली हैं।

जैसे शब्द बाद में बने, पहले राग बने, टप्पे बने, जुमले बने, उसी तरह पहले जुमलों की तसवीरें बनीं, फिर शब्दों की शकलें बनीं, फिर इन शकलों को आहिस्ता आहिस्ता छोटा और और छोटा बनाया गया और फिर हज़ारों बरस बाद किसी को सूझी कि हरफ़ भी हो सकते हैं, और वह भी सब मुलकों में नहीं। आज कल भी चीनी में हरफ़ों की जगह शब्द ही हैं। चूंकि इन के शब्द या तो एक लड़ी (सिलेबल) के हैं या एक लड़ी शब्दों को जोड़ कर बनाए गए हैं इसलिये इन में हरफ़ों की जगह शब्दों की लिखाई मुमकिन हो गई। नतीजा यह हुआ कि चीनी का लिखना पढ़ना सीखना बहुत मुशकिल काम है। मामूली किताबें और अख़बार पढ़ने के लिए तीन एक हज़ार शब्द आने चाहियें जिन के सीखने में तीन बरस लग

जाते हैं। किसी ज़बान का माहिर होने के लिये सात आठ हज़ार शब्द आने चाहियें और इन को सीखने के लिये आठ बरस चाहियें। जिन ज़बानों में लफ़्ज़ हरफ़ों में लिखे जाते है उन्हें सीखने के लिये आधे से भी कम समय लगता है अगर हरफ़ ठीक बने हुए हों। हमारे हिन्दुस्तान में भी हरफ़ बनने से पहले तसवीरी लफ़्ज़ों का ही इस्तेमाल होता होगा क्योंकि अब तक कुछ हिंदू औरतें बाज़ त्योहारों के दिन दीवारों पर लफ़्ज़ी तसवीरें बनाती हैं।

अलग अलग मुल्कों में हरफ़ों की शक़लें जुदा जुदा हुईं। इस की बहुत सी वजह हैं। हर देस में लफ़्ज़ जुदा, फिर उन लफ़्ज़ों की तसवीर जुदा, और बड़ी वजह एक यह भी है कि कहीं लिखाई पत्थर पर शुरू हुई, कहीं लकड़ी पर, कहीं स्लेट पर। कागज़ बनाना तो चीन वालों ने शुरू किया। संस्कृत के अक्षरों की शकल ही कहे देती है कि यह बनाए गए थे सख़्त पत्थर और धात की तख़्तियों पर हतौड़े और छेनी से खोदने के लिये। लेख के असली माइने ही हैं खोदना। अरबी हरफ़ साफ़ कह रहे हैं कि हम बने थे ऐसे देस में जहां पत्थर कम सख़्त होता था इसलिये हतौड़े की ज़रूरत न थी, नोकदार नहरने की क़िसम का क़लम काफ़ी था। सोचो तो सही कि बीसवीं सदी में जब कागज़ ही लिखने के लिए काम में आता है यह पुराने ज़माने के पत्थर के हार हम अपने गले में लटकाए फिरें, उन पर घमंड करें और कहें कि यह है हमारी कलचर! कोई क़ौम कितनी ही पुरानी लकीर की फकीर क्यों न हो एक दिन इस पलटती दुनिया में उस की आँख ज़रूर खुलेगी। शायद हमें भी एक दिन इतनी अक़ल आजाए कि हम बिना किसी हटधर्मी के सोच सकें कि कौनसी लिखावट अच्छी है।

आजकल की लिखावटों की अच्छाई बुराई जांचने से पहले दो चार और बुनियादी बातों पर ध्यान देना ज़रूरी है। किसी ने कहा है कि विद्या प्रचार के जो सब से बड़े दुशमन हैं, वह हैं एक तो पढ़े लिखे और

दूसरी सरकार, चाहे सरकार अपनी हो या ग़ैर की। सरसरी निगाह से तो यह बात बिलकुल ग़लत मालूम होती है क्योंकि जितना शोर मुल्क में विद्या के हक़ में होता है वह सरकार और पढ़े लिखे ही करते हैं। लेकिन अगर ज़रा ध्यान से सोचो तो अगरचे यह बात बिलकुल सच्ची नहीं फिर भी इस में भी शक नहीं कि यह बहुत हद तक सही है, हिन्दुस्तान में ही नहीं सारी दुनिया में। हकूमत अगर ग़ैर की हो तो वह कब चाहेगा कि उसकी हकूमत कमज़ोर हो जाए क्योंकि तालीम से प्रजा ताक़तवर हो जाती है। और अगर सरकार अपनी हो तो चाहे राजा का राज हो चाहे प्रजा का, जिस किसी के हाथ में हकूमत की बागडोर है वह कभी तालीम में ऐसा सुधार नहीं करेगा चाहे वह सुधार उस मुल्क की आगे की नसलों के लिये कितना ही फ़ायदे का क्यों न हो जिस से उस के हाथों से बागडोर के निकल जाने का डर हो। लिखावट उसी मुल्क में बदली जा सकती है जहां डिक्टेटर हो या जहां के पढ़े लोगों में अपने से ज़्यादा अपनी संतान से प्रेम हो।

गांधी जी के ख़याल से हर आदमी को उरदू और हिन्दी दोनों के हरफ़ आने चाहियें और अगर वह मदरासी, बंगाली या गुजराती है तो उसे अपनी ज़बान की लिखावट भी सीखनी चाहिये। गांधी जी जैसे लायक़ आदमी के लिये यह मुशकिल न हो लेकिन हर एक आदमी के लिये दो तीन हरफ़ मालाओं का सीखना कैसे आसान हो सकता है। जितना हम तालीम को मुशकिल बनाते हैं उतना ही हम तालीम के फैलने में रुकावट पैदा करते हैं। मैं यह नहीं कहता कि बापू को क़ौम से मुहब्बत नहीं थी लेकिन कभी कभी एक लायक़ आदमी औरों की नालायक़ी समझ नही सकता। उन्होंने किस ख़ूबी से यह कहा है कि आदमी को इतना आलसी नहीं होना चाहिये कि दो चार लिपियां न सीख सके!

आदमी बड़ा हो कर भूल जाता है कि जो अलिफ़ बे उस ने बचपन में सीखी थी उसे कितनी सर दरदी करनी पड़ी थी और चूंकि अब वह आसानी से उन हरफ़ों की लिखाई पढ़ सकता है उसे यह नहीं सूझता कि

वह अपने बच्चों के लिये कोई ऐसी हरफ़माला बनाए या अपनावे जिस से हमारी संतान को पढ़ने में आसानी हो। और अगर उसे सूझे भी तो वह उस पर अमल नहीं करता क्योंकि ऐसा करने से उसे शुरू से नई हरफ़माला सीखने की तकलीफ़ उठानी पड़ेगी। लिखावट की तबदीली और सुधार के ख़िलाफ़ जो शोर पढ़े लिखे मचाते हैं उस की जड़ असल में यह ख़ुदगरज़ी है और इस पर परदा डालने के लिये धर्म और कलचर का ढकोसला पेश करते हैं। मेरी राय में इस से ज़्यादा बेइज़्ज़ती वह अपने धर्म और कलचर की नहीं कर सकते। धर्म और कलचर न हुए गोलियों के कच्चे रंग हुए जो ज़रा से छींटे से बह निकलेंगे। पच्छिम में धर्म की आड़ नहीं ली जाती। वहां के पढ़े लिखे एक अजब लेकिन उतना ही बेकार बहाना लेते हैं। जैसे यह सब मानते हैं कि अंगरेज़ी के हिज्जे बहुत बेहूदा और मुशकिल हैं और यह आसानी से आसान बनाए जा सकते हैं। लेकिन इन के आसान बनाने के ख़िलाफ़ यह वजह दी जाती है कि आसान बनाने से शब्दों का इतहास मिट जाने का डर है। भला उन से कोई पूछे कि जब शब्दों का इतिहास डिक्शनरियों में दर्ज है तो वह कैसे मिट जायगा और अगर मिट भी गया तो क्या अंधेर हो जायगा। यह ही हाल फ़रांसीसी का है। इसी तरह जहां देखो दुनिया भर में तालीम के आसान बनाने के यानी विद्या के प्रचार के सब से बड़े दुशमन हैं पढ़े लिखे। यूं दिखावे को यह लोग बहुत शोर मचाते हैं।

जितनी लिखावटें आज कल हिन्दुस्तान में बरती जाती हैं वह सब पुरानी हैं और जैसा कि मै पहले लिख चुका हूं जितने हरफ़ हैं वह सब लफ़्ज़ी तसवीरों के अक्सको छांट कर बनाए गए हैं। हम में से आजकल कोई नहीं जानता कि वह क्या लफ़्ज़ थे जिन के अक्स से यह हरफ़ निकले हैं। जैसे 'म' की यह शकल क्यों हुई कोई नहीं जानता। इसलिये अगर 'म' को हम किसी और तरह लिखें तो ऐसा करने से न हमारे धर्म में न हमारे इतिहास ज्ञान में कोई कमी हो सकती है। अगर ज़रा सोचो कि पिछले

हजार बरसों में आदमी ने लगभग हर इल्म और हुनर में कितनी नई ईजादें की हैं तो अचरज होता है कि उसने अभी तक कोई अच्छी आसान हरफ़-माला नहीं बनाई । यह नहीं कि उसे सूझा नहीं । सूझा तो सही पर सिर्फ़ ऐसे देसों में जहां के रहने वाले सब पढ़ना जानते थे और इसलिये जहां इस पर अमल करना नामुमकिन हो चुका था खास कर जब वहां एक ही लिखावट थी । इस की जरूरत ज़्यादा तो एशियाई मुल्कों को हुई है । जो क़दम उन्होंने इस तरफ़ बढ़ाए हैं उन से शायद हम भी कुछ सीख सकें इस लिये उन का कुछ हाल यहाँ दिया जाता है ।

तुरकी भी पहले अरबी हरफ़ों में लिखी जाती थी । तुरकों को इस सदी के शुरू में अपने देस के बचाव के लिये बहुत से जंग लड़ने पड़े । आज कल के जंग के ढंग ही निराले हैं । जंग में कामयाब होने के लिये अपने मुल्क के ही नहीं दुशमन के मुल्क के भी नक़शे जिनमें हर तरह का ब्योरा दर्ज हो ज़रूरी हैं । तुरकों के पास यह नक़शे तो थे पर अरबी हरफ़ों में । अरबी में स्वर (वावल) बहुत कम हैं । ज़बर, ज़ेर, पेश से स्वरों का कुछ काम तो लिया जा सकता है लेकिन लिखने में कम ही बरते जाते हैं और तार के काम में तो बिलकुल नहीं । नतीजा यह कि तुरकों ने दो तीन जगह मार खाई सिर्फ़ इस वजह से कि उनके नक़शे अरबी हरफ़ों में थे । कमालपाशा को अपने देस की चीज़ों से ज़्यादा अपने देस से प्रेम था । जब हकूमत की बागडोर उसके हाथ में आई उसने फ़ैसला कया कि अरबी 'अलिफ़-बे-ते' की जगह रोमन 'अलिफ़-बे-ते' की क़िसम के हरफ़ सिखाए जाएं । इस काम के लिये उसने प्रोफ़ेसरों और विद्वानों का एक कमीशन मुक़र्रर किया । कमीशन ने बहुत महीनों की मेहनत के बाद अपनी तजवीज़ पेश की । उनकी तजवीज़ साइन्सी तौर पर तो ठीक थी लेकिन २६ रोमन हरफ़ों की जगह उन्होंने पचास से ज़्यादा तजवीज़ किये । यानी तुरकी को आसान बनाने की जगह और मुशकिल बना लाए । कमालपाशा ने कमीशन की रिपोर्ट को तो रद्दी में डाल दिया और आप

हरफ़ बनाने बैठा। रोमन हरफ़ों में थोड़ी सी तबदीली कर दी और २६ हरफ़ों की जगह २७ हरफ़ बना दिये। तुरकी में 'Q' और 'X' उड़ा दिये गए। रोमन 'सी' (C) तुरकी 'ज' (J) हुई। उसके नीचे एक बिन्दी लगा दो तो तुरकी 'च' हो गई। रोमन 'S' तुरकी में 'श' बना दिया गया। जरनैल कमाल अगले दिन स्कूल मास्टर बन बैठा। जहां जाता यह हरफ़ सिखाता। बच्चों बूढ़ों सब को यह हरफ़ सीखने पड़े। साथ ही साथ उसने ज़बान को सुधारा। जितने अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ तुरकी में घुस गए थे उन्हें एक दम निकाल बाहर किया। उरदू की तरह पहले अच्छी तुरकी बोलने के लिये अरबी और फ़ारसी की काफ़ी जानकारी ज़रूरी थी तुरकी मामूली तौर पर सीखने के लिये कम से कम पाँच साल ख़राब करने पड़ते थे। इन सुधारों का नतीजा यह हुआ कि पांच बरस की जगह तुरकी लिखना पढ़ना अब आसानी से दो साल में आ जाता है। सोचो तो सही क़ौम को कितना फ़ायदा हुआ। उस की हर आगे की नसल की उमर तीन साल बढ़ गई। हरफ़ों के सुधार से तो शुरू में कुछ ऐसी तकलीफ़ न हुई, लेकिन फ़ारसी और अरबी के सारे लफ़्ज़ों को एक दम निकाल देना, यहां तक कि अरबी लफ़्ज़ अल्लाह की जगह तुरकी लफ़्ज़ 'तुनरी' ही इस्तेमाल किया जा सकता था, आसान न था। ठेठ तुरकी तो सिर्फ़ कहीं किसी किसी गांव में ही बोली जाती थी और इसलिये उस के लफ़्ज़ गिनती के ही चालू थे। पुरानी किताबों में से खोज खोज कर निकालने पड़े और बहुत से उन्हें जोड़ तोड़ कर नए बनाने पड़े। इस काम के लिये समय चाहिये। जब तक लफ़्ज़ों का भंडार काफ़ी नहीं हुआ और वहां के लोग उन्हें समझने नहीं लगे कारबार करना मुशकिल हो गया। अख़बार छपे तो सही लेकिन कालमों के कालम ख़ाली और जो भरे भी गए उनमें नए लफ़्ज़ों के साथ साथ उन के माइने भी लिखने पड़े। पार्लमेंट बैठी ज़रूर लेकिन वहां बोले कौन? फ़साहत (जादू बयानी) का तो क्या कहना, अपने मतलब को टूटे फूटे लफ़्ज़ों में हेर फेर कर अदा

कर सकना ही हिम्मत का काम था। अब तुरकी एक होनहार तन्दुरुस्त ज़बान है। चूंकि तुरकी ज़बान से मैं नावाकिफ़ हूँ इसलिये यह नहीं कह सकता कि जो तबदीलियां रोमन हरफ़ों में तुरकों ने की हैं वह तुरकी के मुनासिब हाल हैं या नहीं। इतना कह सकता हूं कि हिन्दुस्तानी के लिये ठीक नहीं।

पहली बड़ी जंग के बाद जब रूस में बोलशेविकों की हकूमत जम गई तो उन्होंने यह फ़ैसला किया कि पांच बरस के अन्दर अन्दर हर बूढ़े बच्चे मर्द औरत को पढ़ना लिखना सिखाया जाए। उन दिनों रूस में पढ़े लिखों की गिनती फ़ी सदी आजकल की हिन्दुस्तान की फ़ी सदी से ज़्यादा न थी। गो आबादी रूस की यहां से कम है लेकिन रक़बा हिन्दुस्तान से बहुत ज़्यादा है। आचार विचार के ही भेद नहीं नसली भेद भी वहां ज्यादा हैं इस लिये ज़बानें हिन्दुस्तान से ज़्यादा ही नहीं बहुत अलग अलग निकास की भी हैं। कोई मंगोलियन, कोई सलेवानिक कोई अरबी, कोई आरमीनियन और कोई आर्ययूरपी। रूसी ज़बान को छोड़ कर और किसी में कुछ अच्छा साहित्य न था। कुछ ज़बानें ऐसी भी थीं जिन का न कोई व्याकरन, न डिक्शनरी, न लिखावट। उन में यह सब कुछ बनानी पड़ीं। हकूमत की बाग रूसी ज़बान वालों के हाथ में थी। ऐसी हालत में अगर वह अपनी लिखावट सब ज़बानों के लिये चलाते तो अचंभा न होता। पर चूंकि रूसी लिखावट में रोमन से हरफ़ ज़्यादा हैं इसलिये उस का सीखना ज़्यादा मुशिकल है। और चूंकि तालीम को फैलाने के लिये उसे आसान बनाना मुनासिब है उन्होंने सिवाए रूसी ज़बान के और सब ज़बानों को रोमन में सिखाना शुरू किया। गलती उन से हुई तो सिर्फ़ यह कि रूसी ज़बान को भी रोमन लिखावट में लिखना शुरू नहीं किया। शायद इसे गलती कहना ठीक नहीं। मुमकिन है कि उन की ताक़त से बाहर हो। जब इन ग़ैर रूसी ज़बानों में शुरू की तालीम फैलाने में वह कामयाब हो गए और आला तालीम देने का सवाल पैदा हुआ और रूसी ज़बान सेकंड लैंगवेज (दूसरी ज़बान) मुकर्रर की गई तो एक अजब

मुशकिल सामने आई। रूसी हर्फ़ रोमन हर्फ़ों से ज्यादा ही नहीं, कुछ ऐसे हैं जिन की आवाज़ रूसी में भी वही है और रोमन में भी वही, कुछ ऐसे हैं जिन की शकल तो वही है लेकिन आवाज़ और, और कुछ ऐसे हैं जिन की शकल भी और है। नतीजा यह कि रोमन हरफ़ जानने वालों के लिये रूसी लिखावट पढ़ना बहुत ही मुशकिल हो गया। इस मुशकिल को हल करने के लिये एक दिन यह नादिरशाही हुकम दिया गया कि आज से रोमन हरफ़ों की जगह सब ज़बानें रूसी लिखावट में लिखी जाएं। नतीजा यह हुआ कि करोड़ों आदमी जो पढ़ सकते थे अगले दिन अनपढ़ हो गए और उन्हें शुरू से नई लिखावट सीखनी पड़ी।

फ़ारसी में अरबी शब्द कोई सत्तर फ़ी सदी हो गए थे। फ़ारसी को इन अरबी शब्दों से पाक करने के लिये एक ईरानी मजलिस १६३५ में बनाई गई ताकि ईरानी शब्दों की डिक्शनरी बनाए। अगरचे थोड़े से अरबी शब्दों को डिक्शनरी में जगह दी गई है लेकिन जितने निकम्मे शब्द थे उन्हें छांट दिया गया और कोशिश की जाती है कि कोई शब्द बरता न जाए जो ईरानी मजलिस की डिक्शनरी में न हो। कुछ दिन तो यह भी कोशिश की गई कि अरबी हरफ़ों की जगह रोमन हरफ़ बरते जाएँ जिससे ज़बान और आसान हो जाए। लेकिन बदक़िसमती से ईरान की हकूमत बड़े ज़मींदारों के हाथ में है। उन्हें डर लगा कि कहीं रोमन हरफ़ों के साथ साथ कम्यूनिज़्म न आ धमके इसलिये रोमन का कड़ा विरोध किया गया यहां तक कि साइनबोर्ड में रोमन हरफ़ों का लिखना जुर्म क़रार दिया गया। ज़मींदारों के दिन अब दुनिया भर में गिनती के रह गए हैं। जहां ज़मींदारा उड़ा बहुत मुमकिन है कि ईरान में रोमन फिर जारी हो जाए। हो सकता है कि रोमन के ख़िलाफ़ पादरियत का भी हाथ हो क्योंकि शियाओं के गुरू नजद वगैरा में ईरान के बाहर रहते हैं। लेकिन जिस मुल्क में शादी तलाक़ के क़ानून में सुधार किया जा सकता है वहां पादरियत भी आख़री दमों पर समझिये।

जिन मुल्कों में अरबी बोली जाती है वहां अरबी हरफ़ ही इस्तेमाल होते हैं। यह बात ध्यान देने की है कि गो अरबी ने बहुत से मुल्कों पर हमला किया वह मुद्दत तक उन्हीं मुल्कों में पांव जमा सकी जिन की जुग़राफ़ी दशा अरब की तरह है यानी रेगिस्तान, पथरीले चट्टान और पहाड़ी क़िले। हैरानी की बात यह है कि इन मुल्कों में पादरियत क्यों अभी तक ज़ोरों पर है। मुझे एक ही वजह सूझती है, उनका शानदार पुराना ज़माना। मैं बड़े बाप का बेटा हूं!

चीन भी उन देसों में से है जिसका पुराना ज़माना भूत की तरह सवार होकर उसे ख़राब कर रहा है। इस में शक नहीं कि वह जितना अपने पुराने ज़माने पर इतराए थोड़ा है। क्योंकि यह ही एक देस है जिसने शुरु में चार बड़ी ईजादें कीं—कम्पास, बारूद, कागज़ और छापाख़ाना। उसके मुक़ाबले में हिन्दुस्तान ने सिर्फ़ एक ही बड़ी ईजाद की और वह था सिफ़र का अंक। मैं पहले लिख चुका हूँ चीनी में हरफ़ नहीं लफ़्ज़ हैं और इसलिये उस का लिखना पढ़ना बहुत मुशकिल है, उरदू से भी ज़्यादा। जिसे उरदू पढ़ने की काफ़ी मश्क हो जाए उस की समझ में नहीं आता कि उरदू पढ़ना मुशकिल है, चीनियों के भी यह बात समझ में नहीं आती कि चीनी पढ़ना सीखना मुशकिल है। अब कुछ कुछ उन की समझ में यह बात तो आने लगी है, लेकिन उन का पुराना ज़माना उन्हें कुछ करने नहीं देता। जापान ने लिखना पढ़ना चीन से सीखा, इसलिये वहां भी पहले हरफ़ नहीं लफ़्ज़ थे लेकिन जब दसवीं ग्यारहवीं सदी में उन्हें संस्कृत पढ़ने का मौक़ा मिल गया तो उन्होंने चीनी और संस्कृत लिपियों को जोड़ कर अपनी लिपि बना ली। न हरफ़ रहे न लफ़्ज़ बस सिलेबल रहे। जापानी में कुल पांच स्वर हैं:—आ, ऐ, ऊ, ओ और पाचवां इ और ए के बीच की आवाज़ जैसे अंगरेज़ी शब्द pen में है और व्यंजन भी कुल नौ हैं। सारी बोली में कुल ४७ सलेबली आवज़ें हैं। इसलिये उन्हें कुल ४७ निशानियां बनानी पड़ीं जिन्हें अक्षर कहना शायद ग़लत न हो। चूँकि जापानी में जुड़े हुए व्यंजनों की

बीमारी नहीं ज़ुबान में मिठास है और लिखना पढ़ना भी आसान है फिर भी उसे ज़्यादा आसान बनाने के लिये वहां मुद्दत से एक सभा बनी हुई है जो रोमन लिखावट को जारी करने का हक़ में है। यह तो मोटी बात है कि जापानी ४७ अक्षरों की जगह जापानी रोमन के १४ अक्षर सीखने ज़्यादा आसान है।

इस जंग से पहले यह सभा कुछ कामयाब न हो सकी लेकिन इस जंग के बाद उस की ताक़त दिनों दिन बढ़ रही है और उम्मीद की जाती है कि वह दिन बहुत दूर नहीं जब जापानी केवल रोमन में ही लिखी जाया करेगी। अब भी कुछ अख़बार रोमन और जापानी लिखावटों दोनों में छपते हैं।

हिन्द चीन, स्याम, अनाम, इन्डोनेशिया और एशिया के सारे दखिनी पूरबी देसों में जहाँ पहले चीनी जैसी लिखावटों का रिवाज था वहां अब बहुत करके रोमन ही बरती जाती है। फ़िलीपाइन में तो मुद्दत से रोमन चालू है। मुशकिल यह कि हम इन देसों से कुछ कट से गए हैं। हमें कुछ मालूम ही नहीं कि वहाँ क्या हो रहा है। सुनता हूं कि बरमा और लंका में भी अब रोमन जारी हो गई है।

उरदू में ३६ हरफ़ हैं जिन में सिर्फ़ पांच स्वर (वावल) और ३३ व्यंजन (कानसोनन्ट) हैं क्योंकि 'वाव' और 'ये' स्वर भी हैं और व्यंजन भी। और अगर ज़बर, ज़ेर, पेश जो स्वरों का काम देते हैं उन को भी गिना जाए तो उरदू में ४१ हरफ़ हैं। उनमें से बहुत से हरफ़ ऐसे हैं कि जिन की आवाज़ अरबी में चाहे अलग अलग हो उरदू में एक ही या एक सी ही है। इसलिये इस के हिज्जे अंगरेज़ी से भी ज़्यादा मुश्किल और पेचीदा हैं। नतीजा यह कि गो मैंने आठवीं क्लास तक उरदू पढ़ी और उस के बाद भी कुछ उरदू पढ़ने लिखने का काम पड़ता रहा लेकिन उस के हिज्जे अभी तक न आए। ख़ूबी यह कि मेरे स्कूल के दिनों में लियाक़त हिज्जों और महावरों में ही रह गई थी। उरदू पढ़ना सीखने के लिये कम

से कम पांच बरस लगते हैं। दो-हरफ़ी लफ़्ज़ 'सीन वाव' को ही लो यह नौ तरह पढ़ा जा सकता है—सौ, सो, सू, सव, सिव, सुव, स्व, स्वि, स्वु। ज़्यादा हरफ़ों के लफ़्ज़ का तो क्या कहना। हरफ़ों के इतने जोड़ तोड़ हैं कि पांच बरस पढ़ने के बाद भी अगर दो तीन बरस उरदू पढ़ना छोड़ दो तो सारी मेहनत अकारथ हो जाती है। क्या हमें अपने बच्चों और क़ौम से मुहब्बत नहीं कि हम इतना बड़ा भारी जुवा उन की गरदन पर धरते हैं जो आसानी से हलका किया जा सकता है। है तो सही, लेकिन हमें अपने आपसे ज़्यादा प्रेम है और अपने मुर्दों से और भी ज़्यादा। उरदू हरफ़ों में सिर्फ़ तीन ख़ूबियां हैं। एक तो इसकी ख़ूबसूरती लेकिन जितनी इस की लीथो ख़ूबसूरत है उतना ही इस का टाइप बदसूरत ही नहीं आंखों को ख़राब करने वाला है। दूसरी यह कि यह एक क़िसम की शार्टहैंड है और इसलिये जल्द लिखा जा सकता है। मुशकिल यह है कि शिकस्ता पढ़ने के लिये बड़ी महारत चाहिये। तीसरी ख़ूबी जो और किसी एशियाई हरफ़ों में नहीं है वह यह है कि इस में 'हे' को क-ग-च-ज वग़ैरा से मिलाकर एक और नई आवाज़ के हरफ़ बनाए जाते है जैसे ख, घ, छ, झ, वग़ैरा।

यह तीसरी ख़ूबी यूरपी दिमाग़ का नतीजा है। रोमन में एच (h) को इस तरह मिलाकर इस क़िसम की दूसरी आवाज़ें पैदा करने का दस्तूर बहुत पुराना है। अरबी और फ़ारसी में यह आवाज़ें हैं ही नहीं और न हो सकती थीं क्योंकि उन में इन आवाज़ों से मिलती जुलती फ़े, ज़े, ख़े, ग़ैन वग़ैरा ऐसे हरफ़ हैं जिन की आवाज़ में नागरी के फ, झ, ख और घ की आवाज़ से थोड़ा ही भेद है। भाषा विद्या का यह बहुत मोटा असूल किसी उरदू और हिन्दी वाले की समझ में कभी आया ही नहीं और शायद आ भी नहीं सकता कि किसी जबान में दो ऐसी मिलती जुलती आवाज़ें जैसे फ़ारसी की ख़े, ज़े, ग़ैन और हमारी ख, झ और घ की आवाज़ें दो जुदा जुदा लेकिन बहुत कुछ वैसी ही कभी आम नहीं हो सकतीं। उरदू वालों की तो

नाक कट जाती अगर वह फ़ारसी शब्द को फ़ारसी लहजे से न बोलते। जैसे आजकल अंगरेज़ी पढ़ा हुआ हिन्दुस्तानी में भी जब कोई अंगरेज़ी शब्द बोलेगा तो अंगरेज़ी लहजे में ही बोलना अपनी शान समझता है। यह तो साफ़ है कि अगर हम सबको पढ़ाना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि जो शब्द हम ग़ैर ज़बान से लें उसे इस तरह अपनावें कि वह अपनी ही ज़बान का शब्द मालूम हो। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारे देस में ८३ फ़ी सदी लोग देहात में रहते हैं और शहर में रहने वालों में से भी ७५ फ़ी सदी से ज़्यादा की ज़बान अभी तक देहाती है। वह अज़ीज़ को अजीज, लक्षमण को लखन या लछमन ही कहते हैं। किस की ज़बान दुरुस्त करना आसान है ९६, ९७ फ़ी सदी की ज़बान को या ३, ४ फ़ी सदी की ज़बान को? आज हकूमत इन तीन चार फ़ी सदी के हाथ में है। कहने को तो वह बड़े बड़े दावे करते हैं देहातियों को उभारने के लेकिन वह अपने आपे में इतने मस्त हैं कि उन्हें शायद यह सूझ भी नहीं सकता कि यह जो हमें रेडियो और स्कूलों में फ़,ज़,ऋ, ष, ण, ङ, ञ वग़ैरा पढ़ाए जाते हैं इन से क्या फ़ायदा—झूटी शेख़ी, शराफ़त की लिपस्टिक? पढ़ाई को ९७ फ़ी सदी के लिये आसान बनाने की जगह मुशकिल बनाना कौन सी अक़्लमंदी की बात है।

हिन्दी की हरफ़माला में दो ख़ूबियां हैं। एक तो उन की तरतीब। शुरू में सारे स्वर और वह भी तरतीब वार। फिर सारे व्यंजन और वह भी कंठी, जीभी, तालवी वग़ैरा सब अलग तरतीब से दरजे बदरजे सजाए हुए हैं। दूसरी यह कि हर हरफ़ का नाम सिर्फ़ उस की आवाज़ है। अंगरेज़ी और उरदू की तरह नहीं कि नाम कुछ और उस की आवाज़ कुछ। मसलन 'ब' का नाम 'बे' है, 'अ' का नाम 'ए' की बजाय अलिफ़' है; च को 'चे' और 'ज' को 'जीम'। इसी तरह अंगरेज़ी में 'ज' को 'जे' लेकिन 'ह' को 'एच' कहते हैं। इन दो ख़ूबियों के जितने गुन गाओ ठीक लेकिन इन्हें छोड़ कर इस में और कोई ख़ूबी नहीं। हरफ़माला में

जो सब से बड़ी ख़ूबी होनी चाहिये वह यह कि वह इतनी सादी हो कि उसे पढ़ना और लिखना दोनों आसान हों। आसान के माने यहां हैं कम समय लेने वाली यानी कम मेहनत लेने वाली। हरफ़ 'अ' को ही लो, पहले बड़ी लकीर, फिर खड़ी लकीर, फिर इन्हें जोड़ने के लिये एक ख़म वाली लकीर, फिर एक एड़ी लकीर और आख़िर में एक उल्टी घुन्डी। मतलब यह कि सिर्फ़ 'अ' लिखने के लिये पांच तरह की निशानियां कागज़ पर बनानी पड़ती हैं। माना कि और हरफ़ इतने कठिन नहीं लेकिन सिवाय मात्रों के ऐसा एक नहीं जिसे लिखने के लिये कम से कम एक दफ़ा कागज़ पर से पेनसिल न उठानी पड़े। कुछ तो ऐसे हैं कि उन के लिखने के लिये चार पांच दफ़ा पेनसिल उठानी पड़ती है। सोचो तो सही कितना वक़्त और शक्ति फ़ज़ूल ख़र्च होती है। अगर इन की क़ीमत रुपयों में गिनी जाए तो आज कल भी रोज़ हज़ारों का नुक़सान होता है और अगर सारा ब्योहार हिन्दुस्तान का देवनागरी में ही हो तो हर रोज़ करोड़ों का नुक़सान हो। मुझे मालूम नहीं कि देवनागरी के अक्षर कब बनाए गए। कम से कम हज़ार बरस तो हो चुके होंगे। इन हज़ार बरसों में जितनी जातियाँ ऐसी हुईं जिन्हें अपने बनिज ब्योपार में लिखने पढ़ने का काम पड़ा उनमें से एक ने भी इसे नहीं अपनाया। कभी आपने इस की वजह सोचने की कोशिश की है? मुझे एक ही कारन सूझता है और वह यह कि इसमें कारवार करने से बहुत वक़्त ख़राब होता है। वक़्त बचाने के लिये इन्होंने इसके हरफ़ों को जितना सादा बना सकते थे बनाया। मैं जानता हूँ कि आज कल के पण्डित इन महाजनी अक्षरों को बुरा कहते हैं और उन में से बहुत इस हद तक सादा बनाए गए हैं कि उन के पढ़ने में ग़लती करना मुमकिन है; लेकिन इन ख़राबियों के होते हुए भी जितना हिसाब किताब चिट्ठी पत्री का ब्योहार जो किसी हिन्दुस्तानी लिखावट में किया जाता है वह लगभग सब का सब महाजनी लिखावटों में ही होता है। पूरे देवनागरी हरफ़ तो सिर्फ़ वही आदमी लिखते हैं जो कभी कभार लिखते हैं।

जिन्हें हिन्दी ज़्यादा लिखनी पड़ती है वह अकसर ऊपर की लकीर नहीं डालते। समझ में नहीं आता कि इस पड़ी लकीर को क्यों क़ायम रखा जाता है। तालीमी और छापेख़ाने के लिहाज़ से यह बड़ा भारी दोष है। तालीमी ख़याल से हरफ़ों में जितनी एकरूपता कम हो उतना ही उन्हें पहचानना आसान होता है और इसलिये इन का सीखना ही नहीं पढ़ना भी आसान होता है और आँखों पर ज़ोर कम पड़ता है। छापे में अगर ऊपर की लकीर उड़ा दी जाए तो एक सफ़े पर डेवढ़ा मज़मून उतने ही रोशन टाइप में छप सकता है। गुजराती में यह दोष नहीं अगरचे उसकी हरफ़-माला भी देवनागरी जैसी ही है।

संस्कृत बोलने वालों के गले की बनावट कुछ हमारे गले की बनावट से जुदा थी। इस वजह से संस्कृत में कुछ ऐसे हरफ़ थे जिनकी आवाज़ हमारे गले से नहीं निकलती या मुशकिल से निकलती है। संस्कृत का 'ष' प्राकृतों में 'ख' या 'छ' हो गया और अब हमारे गले से इसकी पुरानी आवाज़ बड़ी मुशकिल से निकलती है और मेरे जैसा गंवार 'ष' और 'श' की आवाज़ में बड़ी मुशकिल से तमीज़ करता है। मेरे दोस्तों के कानों में भी यह ख़राबी आगई है। हिन्दी वाले 'ष' को फिर जारी करना चाहते हैं। 'ष' वह भी नहीं बोल सकते।

हिन्दी में ४६ हरफ़ हैं। यह तो साफ़ है कि जितने हरफ़ ज़्यादा हों उतना ही उन्हें सीखना मुशकिल है। इनमें से १६ तो स्वर हैं। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए और ओ की आवाज़ हमारी बोली में आम है। 'ऐ' और 'औ' की आवाज़ हमारी बोली में कुछ हलकी पड़ गई है लेकिन अब भी स्कूलों में इन का नाम इनकी पुरानी आवाज़ से लिया जाता है जो सरासर ग़लत है। बाक़ी पांच ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, अः हमारी ज़बान से बिलकुल उड़ गए हैं। इसलिये इन का पढ़ाना और रखना उतना ही मुफ़ीद है जैसे किसी को हर वक़्त याद दिलाना कि उस के बदन में दुम के

निशान अभी तक बाक़ी हैं। मुझे तो यह भी समझ में नहीं आता कि इन्हें स्वरों में क्यों रखा गया है। मुझे तो इन सब में व्यंजनों की आवाज़ आती है। यह मुमकिन है कि पुराने आर्यों के और हमारे गले में ज़मीन आसमान का फ़रक़ हो। बहरहाल जो इनके नाम हमें आजकल पढ़ाए जाते हैं वह सब ग़लत हैं। ऋषि और रिशि की आवाज़ में कोई फ़रक़ नहीं और अगर हो भी तो इतना हलका कि मामूली हिन्दुस्तानी कान उन में तमीज़ नहीं कर सकते। 'ऋ' 'ष' को अब भी क़ायम रखना सिवाय हठधरमी के और क्या हो सकता है। वैदिक ज़माने में तो स्वर बहुत ज़्यादा थे। उन स्वरों को लिखने के लिये जब वेदों को देवनागरी में लिखा गया तो देवनागरी मात्रों में ज़ेर, ज़बर, पेश की क़िसम की बहुत सी निशानियाँ बरतनी पड़ीं ताकि मंत्रों का उच्चारन ठीक रहे।

रोमन और उर्दू में 'ह' को और व्यंजनों से जोड़ कर दूसरी अवाज़ें पैदा करने का तरीक़ा हिन्दी वालों को कभी नहीं सूझा वरना यह ख, घ, छ, झ, थ, ध, ठ, ढ, फ, भ और श अलग हरफ़ न बनाने पड़ते। मैं यह बात दुबारा कहे बग़ैर नहीं रह सकता कि जितने कम हरफ़ किसी लिखावट में हों उतना ही उस लिखावट का सीखना आसान होता है।

हमें यह बात भी नहीं भूलनी चाहिये कि जितनी कम क़िसम की आवाज़ें किसी देस में आम आदमी बोलते हैं उतनी ही पुरानी उस देस की सभ्यता होती है। या यूं कहो कि जितनी कोई क़ौम कम सभ्य हो उतनी ही ज़्यादा क़िसम की आवाज़ें उस क़ौम की बोली में पाई जाती हैं। मेल जोल के बढ़ने से ग़ैर मुल्कों के शब्द तो हर ज़बान में दाख़िल होते ही रहते हैं लेकिन उन शब्दों में जो ग़ैर हरफ़ हैं यानी वह आवाज़ें जो उस देस की आम बोली में नहीं पाई जातीं वह कभी आम नहीं होतीं। शुरू में कुछ लोग अपनी बड़ाई जताने के लिये इन ग़ैर हरफ़ों को चाहे कितना ही इस्तेमाल करते फिरें लेकिन देस उन्हें कभी नहीं अपनाता। यह ही वजह है कि संस्कृत के बाज़ हरफ़ अब बिलकुल नहीं बोले जाते। दो हज़ार बरस राज

करने पर भी संस्कृत ऐसे हरफ़ों की आवाज़ हिंदुस्तानी में न ला सकी जो हिन्द के गलों के माफ़िक़ न थी। इसी तरह अरबी के यह हरफ़ गो लिखने में आगए बोलने में नहीं आए—स्वाद, ज़्वाद, तोए, ज़ोए, से, हे हुत्ती, ज़े तीन नुक़्तों वाली, और ऐन। बीसवीं सदी में इन्हें यहाँ लिखाई में क़ायम रखना नादानी है। अरबी के हरफ़ ख़े, ज़े, ग़ैन, फ़े, काफ़ जो हिन्दी वाले ख, ज, ग, फ, और क के नीचे बिन्दी लगा कर लिखते हैं, वह मेरे तुम्हारे जैसे लिखते ही नहीं बोलते भी हैं। लेकिन इन हरफ़ों की आवाज़ हिन्दुस्तानी गले से आसानी से नहीं निकलती और इसलिये जब तालीम आम हो जायगी तो इन की आवाज़ मेरे तुम्हारे जैसों की बोली में से भी निकल जायगी और वह ही आवाज़ रहेगी जो नीचे बिन्दी लगाए बिना इन हरफ़ों की है। अब भी अकसर इन को इसी तरह बोलते हैं। जैसा कि लफ़्ज़ों के बाब में बयान किया जायगा लफ़्ज़ वह अच्छा जो आसानी से बोला जाए और जो आसानी से समझा जाए। इसलिये ऐसे दो हरफ़ किसी ज़बान में नहीं रह सकते जिनकी आवाज़ बहुत कुछ एक सी हो, या तो 'ख' रहे या बिन्दी वाला 'ख़' रहे, दोनों एक देस में बहुत दिन तक नहीं रह सकते। हिन्दुस्तान में 'ख' रहेगा और ईरान में बिन्दी वाला 'ख़'।

हिन्दी में उरदू की तरह एक से ज़्यादा व्यंजनों को जोड़ कर लिखने का रिवाज अभी तक जारी है। मै इस के भी हक़ में नहीं क्योंकि ऐसा करने से लिखने पढ़ने को नाहक़ मुशकिल बनाया जाता है। संस्कृत में दो व्यंजनों को केवल उस हालत में जोड़ा जाता था जब उन के बीच में कोई स्वर न हो। हिन्दी वाले ठेठ हिन्दी के शब्दों में तो यह नियम नहीं बरतते जैसे 'करता' 'भरता' में र और त को जोड़ कर नहीं लिखते लेकिन संस्कृत के लफ़्ज़ों को जहाँ बरतेंगे वह इस नियम का पालन ज़रूर करेंगे। यह बीमारी बँगला, मरहटी और गुजराती में भी आगई है। बचे हैं तो सिर्फ़ गुरमुखी वाले और इसलिये जितना गुरमुखी पढ़ना आसान है और कोई हिन्दुस्तानी लिखावट नहीं। यह गुरमुखी का असूल मैं इस किताब

में बरतना चाहता था। मुझे विश्वास था कि इस से इस किताब के पढ़ने में थोड़ी तकलीफ़ तो होती पर उसकी ख़ूबी समझ में आजाती और यह भी पता लग जाता कि कम पढ़े लिखे भी इसे आसानी से पढ़ सकते थे. पर कुछ उलझनों से मैंने ऐसा नहीं किया।

कौन सी लिखावट अच्छी है इस बात का फ़ैसला करने के लिये अगर समझ कर फ़ैसला करना हो न कि हठधरमी से तो पहले निश्चय करना ज़रूरी है कि लिखावट में क्या क्या गुन ज़रूरी हैं। आज कल इस ज़रूरी मसले पर इस निगाह से न कोई बहस करता है और न सोचने की कोशिश करता है। हिन्दू कहते हैं देवनागरी हो, मुसलमान उरदू के हक़ में और सिख गुरमुखी के। यह झगड़ा क्यों ? मुझे तो सिवाय हठधरमी के और कोई वजह मालूम नहीं होती। यह माना कि आज कल हर एक की धर्म की किताबें उस मत की लिखावट में ही ज़्यादा तर छपी हुई हैं लेकिन अगर एक और लिखावट ज़्यादा अच्छी है और हम सब उस लिखावट में ही सारा काम धन्दा शुरू कर लेते हैं तो ऐसा करने से हमारे धर्म पर कोई आंच नहीं आ सकती, क्योंकि हम उस लिखावट में अपने धर्म की किताबें छाप सकते हैं और अगर हम ज़रा दूर की सोचें तो हमारे धर्म को उस से फ़ायदा ही होगा क्योंकि और मत के लोग भी हमारी धर्म पुस्तकों को पढ़ कर उन से फ़ायदा उठा सकेंगे और हमारा मत बढ़ेगा। मेरे ख़याल में धर्म का तो यह बहाना है। असली वजह हमारी ख़ुदग़रज़ी है। मैं अपनी लिखावट जानता हूँ, क्यों दूसरी लिखावट सीखने की तकलीफ़ उठाऊँ। हर एक लिखावट में कोई न कोई ख़ूबी होती है। उरदू बहुत जल्द लिखी जा सकती है, हिन्दी बहुत जल्द सीखी जा सकती है, गुरमुखी उस से भी आसान है। सोचना यह है कि क्या कोई ऐसी लिखावट है जिस में यह दोनों ख़ूबियाँ ही न हों और सारी आसानियाँ भी हों। ग़रज़ यह कि पहले यह फ़ैसला करना चाहिये कि क्या क्या ख़ूबियाँ किसी लिखावट में होनी ज़रूरी हैं और अगर वह किसी आज कल की लिखावट

में नहीं हैं तो क्या कोई ऐसी लिखावट है जिसे सुधार कर हम ऐसी लिखावट बना सकते हैं जो सब गुनों में पूरी हो।

लिखावट में जो सब से बड़ा और ज़रूरी गुन होना चाहिये वह यह है कि उस में कोई शब्द कितना ही बड़ा क्यों न हो पेनसिल को कागज़ से उठाए बग़ैर लिखा जा सके। इस से यह फ़ायदा ही नहीं कि उसे लिखने में आसानी होती है बल्कि पढ़ने में भी आसानी होगी क्योंकि हर लफ़्ज़ जुदा होगा। जहाँ तक मुझे पता है किसी एशियाई लिखावट में यह ख़ूबी नहीं। रोमन में यह ख़ूबी बहुत कुछ पाई जाती है लेकिन उस में भी दो हरफ़ ख़राब है, एक तो टी (*t*) जिसे पड़ी लकीर से काटना पड़ता है और दूसरी आइ (*i*) जिस पर नुक़ता लगाना पड़ता है। आइ का इलाज तो आसान है। उस का नुक़ता उड़ा दिया जा सकता है। टी जैसे जरमन लिखते हैं लिखी जा सकती है। रोमन में २६ हरफ़ हैं लेकिन उस में वावल (स्वर) कुल छै हैं। हमारी बोली में जैसे कि वह बोली जाती है और बोली जानी चाहिये कुल दस स्वर हैं। अंगरेज़ी जैसे वह बोली जाती है उस में १६ स्वरों की आवाज़ है जिन को लिखाई में वह अजब बेढंगे तौर पर अदा करते हैं। जो रोमन आज कल सिखाई जाती है वह अंगरेज़ों ने अपने लिये बनाई है ताकि उन्हें हिन्दुस्तानी सीखने में आसानी हो। किसी हिन्दुस्तानी ने नहीं बनाई जिस से हिन्दुस्तानियों को अपनी ज़बान सीखने में आसानी हो। बहरहाल यह तो साफ़ है और यह तो मानना ही पड़ेगा चाहे कोई कितना ही हठधरमी क्यों न हो कि अंगरेज़ी रोमन भी जितनी हिन्दुस्तानी हरफ़ मालाएँ हैं उन सब से बहुत आसान है, ख़ासकर लिखने में, और चूँकि इस में कोई दो हरफ़ मिलाकर नहीं लिखे जाते इसके पढ़ने में भी आसानी रहती है। लेकिन इस में देवनागरी जैसी तरतीब नहीं और हमारी ज़बान के माफ़िक़ भी नहीं। इस कमी को इस तरह दूर किया जा सकता है :—

a	*A*	*ı*	*ee*	*u*	*oo*	*e*	*aı*	*o*	*au*
अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ

यह हैं हमारी बोली के दस स्वर। हमारी हिन्दुस्तानी में अब संस्कृत की 'ऐ' और 'औ' की आवाज़ नहीं रही, बहुत हलकी और आसान हो गई है। 'ऐ' की वह आवाज़ है जो हिन्दुस्तानी 'बैठ' या अंगरेज़ी '*bat*' में है और 'औ' की आवाज़ वह है जो हिन्दुस्तानी मौत और अंगरेज़ी '*rot*' में है।

रोमन में हमारे दसों स्वर इसी तरह लिखे जाते हैं। फ़रक़ केवल इतना है कि 'आ' के लिए *A* की जगह *a'* बरता जाता है। टाइप में तो शायद *a'* ही ठीक हो लेकिन चूंकि इस के लिखने में कागज़ से पेनसिल उठानी पड़ती है लिखाई के लिये *A* ही बेहतर है। यह मैं मानता हूँ कि यह तरतीब कुछ बेढंगी है। 'इ' के लिये '*i*' और 'ई' के लिए '*ee*' जब कि एक '*e*' के माइने हैं 'ए'। इसी तरह 'उ' के लिए तो '*u*' और 'ऊ' के लिए '*oo*' जबकि एक '*o*' के माइने हैं 'ओ'। इस बेढंगेपन को दूर करने के लिये मैंने एक दफ़ा बिलकुल नए हरफ़ बनाए थे। लेकिन जब मैंने देखा कि इन स्वरों को अदा करने का यह तरीक़ा सिर्फ़ अंगरेज़ी रोमन में ही नहीं बल्कि जापानी रोमन, तुरकी रोमन और रूसी रोमन और शायद सारी दुनिया भर की रोमनों में बरता जाता है तो मुनासिब यह ही समझा कि इस तरीके को ही क़ायम रखा जाए ख़ास कर इसलिये कि लिखावट बनाने की असली ग़रज़ है तालीम का फैलाना। वह नई हरफ़माला बनाने से जाती रहती है। आख़िर हिन्दुस्तान भी दुनिया का एक हिस्सा है। और गो यह तरीक़ा बेढंगा सही इस में यह ख़ूबी है कि दसों स्वरों को सीखने के लिये सिर्फ़ छै नए हरफ़ों की शकल सीखनी पड़ती है। दो हरफ़ों की आवाज़ों को मिलाकर एक तीसरे हरफ़ की आवाज़ पैदा करने से आसानियाँ पैदा हो जाती हैं सीखने, लिखने पढ़ने में ही नहीं बल्कि टाइपिंग में और प्रिंटिंग में बहुत वक़्त बचता है।

व्यंजन (कानसोनेन्ट्स) जिन के बोलने में गले में से हवा निकालने

के साथ दांत, होंठ, जीभ वगैरा से भी काम लेना पड़ता है वह इस तरह से लिखे जा सकते हैं :—

k,	*g*,	*c*,	*ȝ*,	*θ*,	*δ*,	*ƭ*,	*d*,	*p*,	*b*,	*y*,
क,	ग,	च,	ज,	त,	द,	ट,	ड,	प,	ब,	य,

r,	*r̃*,	*l*,	*w*,	*s*,	*h*,	*m*,	*n*,
र,	ड़,	ल,	व,	स,	ह,	म,	न

कुल २५ हरफ़ सीखकर हिन्दुस्तानी यानी वह बोली जो आम हिन्दुस्तानी बोलने वाले बोलते हैं बड़ी आसानी से अच्छी तरह लिखी पढ़ी जा सकती है। हाँ, वह बोली जिसे काँगरेस वाले हिन्दुस्तानी कहते हैं और जिसका वह प्रचार सारे हिन्द में करना चाहते हैं उसके लिये तो २४ हरफ़ ही बहुत काफ़ी होंगे क्योंकि *r̃* (ड़) की आवाज़ तो बहुत से हिन्द-बासियों के गले से तो निकल ही नहीं सकती। माना यह काम आसान नहीं लेकिन अपनी ग़रज़ को करना पड़ेगा। मुशकिल यह है कि गो कांगरेस में लायक़ आदमियों की कमी नहीं-जो लायक़ हैं उन्हें ज़बान जैसे छोटे मोटे मसले पर सोचने की फ़ुरसत नहीं। स्वरों में, मैंने सिरफ़ एक हरफ़ ***ɑ*** (आ) और व्यंजनों में चार हरफ़ *θ* (त), *δ* (द), *ƭ* (ट) और *r̃* (ड़) तजवीज़ किये हैं। मैं यह खूब जानता हूँ कि यह जो हरफ़ मैंने रखे हैं उनकी शकल औरों की आंखों में उसी तरह खटकेगी जैसे मेरी आंखों में खटकती है। इसलिये अगर कोई लायक़ आदमी इस तरफ़ ध्यान दे तो वह बेहतर शकल के हरफ़ तजवीज़ कर सकेगा और अगर चार पांच होनहार लड़के मिलकर यह काम करें तो और भी अच्छा हो। सिर्फ़ इतना ध्यान रहे कि जितने कम हरफ़ रहेंगे उतना ही हमारी आने वाली नसलों को तकलीफ़ कम होगी। और हमें अपने मुँह से मियाँ मिट्ठू बनकर यह जताने की ज़रूरत नहीं रहेगी कि

हमारे देस की सभ्यता बहुत पुरानी है क्योंकि हमारी हरफ़माला ही इस बात की गवाह होगी।

मैंने Z (ज़) और F (फ़) दोनों उड़ा दिये हैं क्योंकि मेरी राय में जिस बोली में 'झ' है वहां 'ज़' नहीं रह सकता क्योंकि इन दोनों की आवाज़ में बहुत कम फ़रक़ है। इसी तरह जिस बोली में 'झ' है वहाँ 'ज़' को जगह नहीं। यह राय मेरी नहीं है बहुत से भाषा विद्या के विद्वानों की है। बदकिसमती से 'फ़' और 'ज़' फ़ारसी और अंगरेज़ी दोनों में हैं इसलिये पढ़े हुओं को इन का निकालना मुशकिल मालूम होगा। 'ग़' और 'क़' को भी इसी वजह से नहीं रखा—'ख' 'घ' आदि के लिए kh—gh और 'श' के लिये sh ठीक हैं। रोमन में एक ख़ूबी यह भी है कि हर विशेष संज्ञा का पहला हरफ़ और हर वाक्य का पहला हरफ़ बड़ा (कैपिटल) होता है। कामा, फ़ुलस्टाप की आसानियाँ हैं। मुनासिब मौक़ों पर इटालिक्स भी बरते जाते है।

पिछली जंग में पचीस लाख हिन्दुस्तानियों को सिपाही बन कर रोमन सीखनी पड़ी। ऐसा मालूम होता है कि अगली जंग इस से भी बड़ी होगी। मुमकिन है हमें भी ज़बरदस्ती भरती (Conscription) करनी पड़े। उस की तय्यारी के लिये रोमन सिखाना ज़रूरी है। यह बात सोचने के क़ाबिल है कि रोमन की तरह की हरफ़माला सिर्फ़ उन मुल्कों में ही रायज नहीं हुई जिन्हें आजकल की सी जंग से ज़्यादा वास्ता नहीं पड़ा। तुरकी ने जंगी मजबूरियों से लाचार होकर रोमन अख़्तियार की। बहुत से चीनियों और जापानियों को भी रोमन सीखनी पड़ी। मैं जानता हूं कि आजकल हिन्दू और मुसलमान दोनों पर अपनी पुरानी हरफ़मालाओं का भूत सवार है, इसलिये अभी रोमन का प्रचार आसान नहीं। लेकिन दुनिया इस ज़ोर से आगे बढ़ रही है कि वह दिन दूर नहीं जब हमें मजबूरन रोमन ही चलानी पड़े। असल सवाल यह है कि हमारे लिये

अपनी लिखावट बचाना ज़्यादा ज़रूरी है या अपने देस और क़ौम का बचाना। फ़ौज के लिये इस के बग़ैर चारा ही नहीं। देस में एकता फैलाने का यह सब से सहल तरीक़ा है। अगर सारी हिन्दुस्तान की बोलियां रोमन में लिखी जाएं तो एक दूसरे की बोली सीखना कितना आसान हो जाए। अगर दूसरों का बोझ हलका करना पुन्य का काम है तो अपने बच्चों और बच्चों के बच्चों की मदद करना बहुत ही बड़ा पुन्य होना चाहिये।

मैंने जो शकलें हरफ़ों की तजवीज़ की है वह सिर्फ़ लिखाई की हैं, टाइप की नहीं। वजह यह कि मुझे लिखने से तो कुछ वास्ता पड़ा है छापे से बिलकुल नहीं। यह तो मैंने कहीं पढ़ा था कि टाइप बनाना एक हुनर है लेकिन इस हुनर के क्या असूल हैं इस पर कोई किताब नहीं पढ़ी। फिर भी इतना जानता हूँ कि बाज़ शकलें जो मैंने तजवीज़ की हैं वह टाइप के लिये उतनी ही नामुनासिब हैं जितने उरदू और हिन्दी के हरफ़। इन की टाइप की शकल तजवीज़ करना टाइप माहिरों का काम है। इतना ज़रूर चाहता हूं कि लिखाई और टाइप के हरफ़ों की शकल जहाँ तक हो सके एक ही तरह की हो ताकि सीखना मुशकिल न हो।

जब मैं देखता हूं कि पूरबी एशिया के बहुत से मुल्कों में रोमन ने पैर जमा लिये लेकिन चीन और जापान में यह कामयाब न हो सकी तो सोचना पड़ता है कि यह भेद क्यों? बड़ी वजह दो मालूम होती है। एक तो यह कि जिन मुल्कों में तालीम काफ़ी आम होगई है यानी जहाँ स्वार्थियों की गिनती बहुत ज़्यादा हो वहां लिखावट का सुधार मुशकिल है। दूसरा जहाँ पादरियत का ज़ोर हो वहाँ भी सुधार मुशकिल है। उरदू लिखावट के सुधार का ख़याल अभी तक जहाँ तक मुझे इल्म है किसी को नहीं आया। वजह यह कि मुसलमानों में पादरियत इतने ज़ोरों पर है कि ऐसा विचार करना भी कुफ़्र है। जितना जिस प्रान्त में ब्राह्मणों का ज़ोर कम है उतना ही वहाँ के लोग देवनागरी लिखावट को सुधारने में सफल हुए। बंगालियों, गुजरातियों ने तो थोड़ा ही सुधारा, पंजाबियों ने कुछ ज़्यादा और

मदरासी सब से ज़्यादा बढ़ गए। लेकिन यह सुधार उस ज़माने में ही हो सके जब बहुत कम लोगों को लिखना पढ़ना आता था। उस ज़माने में मरहटे और यूपी वाले कुछ न कर सके। अब सुधार की सोचते हैं। १६३५ में गांधी जी ने एक कमेटी बनाई जिसे यह काम सपुर्द किया गया कि जहां तक हो सके देवनागरी लिखावट में मुनासिब तबदीलयां करे और उस में ऐसे हरफ़ बढ़ाए जो उन आवाज़ों को ज़ाहिर कर सकें जो आजकल के हरफ़ ज़ाहिर नहीं करते। माने यह कि मौजूदा ४६ हरफ़ काफ़ी नहीं, पांच दस इन में और बढ़ाने की ज़रूरत है। अजब बात है कि पिछले ज़माने में जो लिखावट सुधारने उठा उसने अक्षर बढ़ाने की ठानी। फ़िनिशियनों ने कुल २२ बनाए थे, बढ़ते बढ़ते पहले ४६ हुए और अब बिन्दी वाले हरफ़ मिलाकर ५४ हो गए। यह तो पता नहीं लगा कि काका कालेलकर की इस कमेटी ने और कितने बढ़ाए लेकिन वह कहीं देखने में न आए। इसी तरह हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने और यूपी की सरकार ने इन अक्षरों को सुधारने के लिये कमेटियां बनाई लेकिन हिन्दी अक्षर वह के वही रहे। फ़रक़ देखा तो सिर्फ़ राष्ट्रभाषा हिन्दुस्तानी में 'इ' को 'अि' और 'उ' का 'अु' और इसी तरह नौ स्वर मात्रा लगा कर लिखी जाती हैं। ऐसा करने से स्वरों को लिखने में दुगनी मेहनत और वक्त लगने लगा। अजब उलटा सुधार है। लिखने वालों की तकलीफ़ का, स्कूल के बच्चों और दफ़तर के क्लारकों का ख़याल नहीं। इन की मुसीबत बढ़े तो हरज नहीं अगर छापेख़ाने वालों और टाइपराइटरों को कुछ आसानी हो जाए। मुझे लिखते हुए शर्म आती है कि जितनी कमेटियां देवनागरी को सुधारने के लिये बनाई गई हैं वह सब टाइपिंग और प्रिंटिंग को आसान बनाने के लिये बनाई गई हैं, ग़रीब लिखनेवाले का कोई ख़याल नहीं करता। यह तो साफ़ है कि टाइपराइटर के जितने बटन कम हों और जितनी कम दफ़ा उन्हें दबाना पड़े उतना ही टाइपिंग असानी से और कम वक्त में किया जा सकता है। इसी तरह जितने कम ख़ाने हों टाइप के उतनी

ही छापेख़ाने वाले जल्दी कम्पोज़ कर सकते हैं। इसलिये इस सुधार से यह फ़ायदा ज़रूर हुआ कि इस से छै हरफ़ हिन्दी में कम हो गए। अगर इस से लिखाई न बढ़ती तो यह फ़ायदा कम न था। किसी ने तो यहाँ तक कहा है कि किसी देस में एक सोने की कान निकल आने से देस को इतना फ़ायदा नहीं होता जितना उस देस की लिखावट में एक हरफ़ के कम हो जाने से होता है। यह शायद बढ़ाकर कहा गया हो लेकिन इस में सच्चाई ज़रूर है। सोने की कान निकालने से धन बढ़ता है, हरफ़ कम होने से वक्त बचता है यानी ख़र्च में कमी होती है। सोचो तो सही कि देवनागरी में ४६ हरफ़ है और १२ मात्राएं, कुल ६१ हरफ़ हुए और चूंकि हर व्यंजन दूसरे व्यंजन से जोड़कर लिखा जाता है इस लिये ३३ व्यंजनों की आधी शकल अलग याद करनी पड़ती है, कुल ६४ शकलें याद ही नहीं करनी पड़तीं छापे और टाइप के लिए ६४ टाइप चाहियें। आज कल बहुत सी सरकारों ने देवनागरी में अपना सारा काम काज करने की ठानी है। नतीजा यह होगा कि इन सरकारों के अमलों का ख़र्च बहुत ज़्यादा हो जायगा। सरकारों का क्या गया उन्हें तो वोट मिल जाएंगे, नुक़सान हुआ तो देस का और आगे की संतान का।

लफ़्ज़--शब्द

कौन सा शब्द अच्छा और कौन सा बुरा इसको जांचने का एक ही नुसखा है जो मिस्टर टैगर्ट ने तजवीज़ किया था और वह यह है कि वही शब्द सबसे ज़्यादा अच्छा है जो सब से ज़्यादा आसानी से बोला जा सके और जो सब से ज़्यादा आसानी से समझा जा सके। अब इस नुसख़े को सब भाषा के विद्वान ठीक मानते हैं। एक बहुत पुराने कवि ने इस ख़याल को इस तरह बांधा है :--

बाग बगीचा सो भला जो सब का सांझा होय।
बानी तिस भा की भली जिन्ह समझे सब कोय॥

मुझे इस बात की तो हैरत नहीं कि हिन्दुस्तानी इस नुसख़े को नहीं जानते। रोना तो इस बात का है कि हमारी यूनीवरसिटियाँ और तालीम के महकमों को भी यह नुसखा मालूम नहीं। और अगर उन में से किसी ने सुना भी है तो वह चलते इसके ख़िलाफ़ हैं। हिन्दुस्तान में १८ यूनीवरसिटियां हैं और हर एक में एक से ज़्यादा ज़बान सिखाई जाती है लेकिन उन में से एक में भी भाषा विद्या नहीं सिखाई जाती। ज़बान सब इल्मों की बुनियाद न सही साधन ज़रूर है। इस की जानकारी ज़रूरी न सही इसके मोटे मोटे असूलों का जानना तो ज़रूरी है।

इस नुसख़े की जड़ है आदमी की सहल पसन्दी यानी आरामतलबी की आदत। आदमी ने अब तक जितनी तरक्की की है उस की जड़ है यह आदत। हमारे देस में जितने पंडित मौलवी और लिखे पढ़े हुए हैं उन में से निन्यानवे फ़ी सदी ज़बान के मामले में इस के ख़िलाफ़ चलते हैं और हमारी यूनीवरसिटियां और सरकार उन्हें डिगरियाँ और इनाम देती हैं। मिसाल के तौर पर हमारे विधान का सरकारी तरजुमा देख लो जिसे बड़े

बड़े पंडित नहीं समझ सकते। ऐसे हैं हमारे क़दरदान, आसान पसन्द नहीं, मुशकिल पसन्द।

अगर एक ही चीज़ या ख़याल के एक से ज़्यादा नाम हैं तो उन में से सब से ज़्यादा कौन सा आसान है इस की जांच मुशकिल नहीं। लफ़्ज़ बनते हैं हरफ़ों के जोड़ से। कुछ हरफ़ बोलने आसान होते हैं, कुछ मुशकिल। कौनसा आसान और कौनसा मुशकिल परखने के लिये बच्चों और किसानों की बोली पर कुछ ध्यान देना पड़ता है। हमारे लिये ग़, क़, फ़, ज़, ण जैसे मुशकिल हरफ़ बोलना मामूली आसान बात मालूम होती है। अब याद भी नहीं कि इन के सीखने के लिये कितनी मेहनत है करनी पड़ी थी। व्यंजनों से स्वर आसान हैं। व्यंजनों में कौन मुशकिल है यह कहना आसान नहीं। हर देस में गले की बनावट जुदा होती है। हमारा 'ड़' औरों के लिये मुशकिल। हमारे लिये सिन्धी 'ब़' मरहठी और मलयाली 'ल़' और तमिल दो क़िसम के 'ऱ' बोलने मुशकिल। अरबी और चीनी में तीन चार क़िसम के 'ज़' हैं हमारे लिये एक 'ज़' भी मुशकिल। फिर ऐसा कोई देस नहीं जिस में गले की बनावट वही रहती हो। जो आवाज़ हमारे लिये आज आसान हो, सौ दो सौ बरस के बाद हमारी सन्तान के लिये मुशकिल हो जाती है। संस्कृत की ऋ, ष, ङ, ञ की आवाज़ अब हम जानते भी नहीं। संस्कृत में ही नहीं हर ज़बान के इतिहास में स, श, छ, र, ल और ह का आपस में तकरार रहा है। कहीं 'स' 'र' हो जाता है कहीं 'ह'। चीन में 'र' कहीं 'ल' कहीं 'ग' हो जाता है। हमारे यहाँ शुरू का 'य' 'ज' होगया है जैसे जमना, जजमान, जग।

इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि दो जुड़े हुए व्यंजनों का बोलना आसान नहीं। हर भाषा के इतिहास से यह बात साबित है कि जुड़े हुए व्यंजनों का दस्तूर हर भाषा में रोज़ बरोज़ कम हो रहा है। अपनी भाषा को ही लो संस्कृत को जाने दो, उसका तो खेल ही निराला है। पहली प्राकृत में जुड़े हुए व्यंजन बहुत थे। दूसरी प्राकृत में संधि का रूप तो वही है लेकिन

जुड़े हुए व्यंजनों से जो कड़वाहट बोली में पैदा होती है, वह बहुत कम हो गई है। स्वरों का इस्तेमाल आम होने लगा है और शब्द छोटे और एक सलेबली होने लगे हैं। आहिस्ते आहिस्ते हमारी ज़बान ने इतनी तरक्की की कि आजकल हमारी बोली में हज़ारों शब्द एक सलेबली हैं। यह ही एक खूबी है हमारी भाषा की जो साबित करती है कि हमारी सभ्यता पुरानी है।

लफ़्ज़ों का आहिस्ते आहिस्ते आप छोटा होना यह तो है कुदरती बहाव, हर देस की हर ज़बान का। इस की जीत अन्त में मौत की तरह अटल है। इस के ख़िलाफ़ हर ज़माने और हर मुल्क में एक ज़बरदस्त बनावटी ताक़त काम करती आई है और जो कुछ अरसे तक कामयाब भी होती है (जैसी आजकल की बनावटी हिन्दी), लेकिन जिस की आख़ीर में हार लाज़मी है। इस बनावटी ताक़त की जड़ बहुत कुछ तो कोरी शेख़ी है और कुछ वह जादूगिरी जिस का कुछ ज़िकर मैंने पहले बाब में किया है। जहाँ अनपढ़ों की गिनती ज़्यादा हो अकसर लोग अपनी लियाकत जताने के लिये मोटे मुशकिल शब्द बरतते हैं। अजब बात है जितना कोई आदमी कम सुलझा हुआ हो उतना ही वह दिखावा ज़्यादा करता है। जिसे ज़रा सुध बुध हो जाए वह सीधी सादी तौर पर बात करना और ख़ास कर लिखना अपनी हतक समझता है। नतीजा यह कि मुशकिल कहना ही लियाकत का आदर्श और फ़ैशन का अंग बन गया है। बुरी आदत एक दफ़ा पड़ जाए तो छोड़े नहीं छूटती। इसी किताब में देख लो इस आदत के कारन बहुत से मुशकिल शब्द घुस गए हैं।

शुरू शुरू में जो शब्द बने वह या तो गुम्बदी थे या पद्दों के छोटा करने से बने या जादूगरों ने बनाए। जब ज़रा रोशनी आई और नए अक्स पैदा होने लगे तो नए अक्सों के नाम उन पुराने अक्सों के नाम जोड़ कर बनाए गए जिन पुराने अक्सों के जोड़ से वह नए अक्स पैदा हुए थे। यह संधि का दसतूर हर मुल्क में सदा से चला आता है। भेद केवल इतना हो गया है

कि उन पुराने अक्सों के चालू नाम की जगह उन के किसी मुरदा ज़बान के नाम जोड़े जाते हैं। जैसे बाइसिकिल को टू व्हील (दुपहय्या) कहने की जगह उस का नाम लातीनी बाइ और साइकिल के जोड़ से बनाया गया। यह मुरदा ज़बानों का जनून हिन्दुस्तान में तो ख़ास ज़ोरों पर है। इस से हमारी बोली दिनों दिन मुशकिल और कड़वी हो रही है। माना कि अन्त में जीत टैगर्ट के नुसख़े की ही होगी लेकिन यह कौन सी अक़ल की बात है कि हम अपनी संतान की राह में कांटे बिछाएं। आख़िर यह कसूर किस का? हमारे महकमा तालीम का। शुरू से बच्चों को सिखाया जाता है कि ठीक से दुरुस्त अच्छा है, सच नहीं सत्य है, आग नहीं अग्नि है। ग़रज़ यह कि इन दो तीन हज़ार बरसों में हमारी बोली जितनी सुधरी वह सब ग़लत थी। एक छोटी मिसाल तो हाल ही में मैंने पढ़ी। एक सूबे के कुछ कालेजों के नाम अंगरेज़ों के नाम पर थे। आज़ादी मिलते ही अंगरेज़ों का नाम उड़ाना ज़रूरी समझा गया। यूनीवरसिटी में मामला पेश हुआ। अंगरेज़ों का नाम ही नहीं उड़ाया गया, शब्द कालेज की जगह भी महा-विद्यालय चुना गया। एक दो-सलेबली शब्द की जगह एक छै-सलेबली शब्द! वाह री हमारी पंडिताई!

जो चीज़ अपने देस में नहीं होती, दूसरे देस से आती है उस का नाम भी दूसरे देस से आता है और अगर वह अपने गले के माफ़िक़ हो तो ज्यों का त्यों हमारी ज़बान का शब्द बन जाता है जैसे गुलाब, बर्फ़, रेल, बटन, मोटर वग़ैरा। अगर हमारे गले के माफ़िक़ न हो तो थोड़ा सा हेर फेर कर के उसे अपना लिया जाता है जैसे बोतल, इंजन, टिकट, लालटेन। अंगरेज़ी शब्दों को अपनाने के लिये हमें अकसर स्वर ही बदलने पड़ते हैं। चाहिये तो यह कि जो अक्स या इल्म दूसरे मुल्कों से आए हैं उनके शब्द भी इसी तरह अपना लिये जाएं लेकिन ऐसा करना हमारी कुछ यूनिवरसिटियां हतक समझती हैं और उन की जगह मुरदा ज़बानों के शब्दों को जोड़ कर नए शब्द गढ़वाती हैं जो अकसर मुशकिल होते हैं। किसी शब्द से परहेज़

करना सिर्फ़ इस लिये कि वह परदेसी है ठीक नहीं। जीत आख़िर में उसी शब्द की होगी जो आसान है चाहे वह अरबी का, अंगरेज़ी का या रूसी का हो। उसे एक दफ़ा हमारी बोली में आना चाहये। क्लास शब्द को ही लो श्रेणी, जमायत दोनों से छोटा है इसलिये रहेगा। स्कूल पाठशाला, विद्यालय और मदरसे से अच्छा है। ऐसे सैकड़ों अंगरेज़ी शब्द सिर्फ़ अपने हलकेपन की वजह से हमारी बोली में आगए हैं और रहेंगे चाहे कोई लाख जतन करे। इसी तरह बहुतेरे फ़ारसी वग़ैरा के शब्द हमारी बोली के नग बन गए हैं।

अब वह दिन गए जब कोई विद्या किसी ख़ास मुल्क की मिलकियत थी। आज एक देस में कोई नई चीज़ ईजाद या दरियाफ़्त हो तो कल सारी दुनिया में उस का चरचा हो जाता है। इसलिये मुनासिब यही है कि साइन्सी शब्द और निशानियां दुनिया भर में एक हों ताकि विद्या के फैलने में रुकावट न हो। हमारी कुछ यूनीवरसिटियों को यह मोटी सी बात भी समझ में नहीं आई। शुकर है अब कुछ कुछ उन्हें भी समझ आने लगी है। यह ठीक है कि बहुत से परदेसी साइन्सी शब्द ऐसे हैं जो हमारे गले से आसानी से नहीं निकलते। ऐसे शब्दों को थोड़े से हेर फेर से हिन्दिआया जा सकता है ताकि जब हम वही शब्द दूसरी जबान में देखें तो उन्हें समझने में तकलीफ़ न हो।

हमारी बोली में शब्दों को आसान करके अपनाने की ताक़त बहुत काफ़ी है जैसे सूर्य को सूरज, चन्द्र को चांद, ज़मीन को जमीन। लेकिन हमारे लिखने वालों की दिखावे की आदत इतनी ज़बरदस्त है कि वह सूर्य, चन्द्र और ज़मीन ही लिखेंगे और बोलेंगे। और मुल्कों में ऐसा नहीं होता, जैसे जापानी में संज्ञा (नाम) के अख़ीर में या तो स्वर होता है या न। जो अंगरेज़ी शब्द उन्होंने लिये उन्हें जापानी शकल देदी जैसे 'बीअर' को 'बीरू', 'बिसकुट' को 'बिस्कट्ट', 'बटन' को 'बोतन'। इस के माने यह नहीं कि वहाँ पंडित नहीं रहते जो मुशकिल शब्द गढ़ना अपना धर्म समझते हैं।

चीन में भी अंगरेज़ी शब्दों को चीनी बनाने के लिये थोड़ी सी तबदीली की जाती है जैसे 'मोटर' को 'मोतू', साइन्स को साइन्सू, वग़ैरा। लिखने में और बोलने में फ़रक़ केवल वहाँ होता है जहाँ किसी लफ़्ज़ को अक्सी शकल दी जाती है। मसलन अमरीका चीनी में लिखने के लिये पहले 'या' लिखा जायगा जो व्यक्तिवाचक संज्ञा (इस्म ख़ास) की निशानी है, फिर 'मी' जिस के माइने हैं सुन्दर, फिर 'ली' जिस के माइने हैं होशयार, फिर 'चिया' जिस के माइने हैं सूद लेने वाला और फिर 'चू' जिस के माइने हैं मुल्क। इस तरह अमरीका चीनी में लिखा जायगा 'यामीलीच्याचू' जिस के माइने है सुन्दर सूद लेने वाला देस। बोलने में इसे 'मीकू' कहते है (सुन्दर देस)। लिखने वाले भी अब इसे 'मीकू' लिख लेते हैं। वहाँ तो छोटा करने का भी दस्तूर है। हिन्दी में सिर्फ़ लम्बा करने का जैसे इस्म ख़ास को व्यक्तिवाचक संज्ञा कहते है। हमारी क़िस्मत की ख़ूबी देखो, छोटे छोटे बच्चों को ऐसे शब्द याद करने पड़ते हैं और मुझे लिखने पड़ते हैं।

यहाँ अंगरेज़ों का राज मुद्दत तक रहा और गो अब उनका राज न रहा सही अंगरेज़ी अबतक राज कर रही है और करती रहेगी जबतक हम लोगों को इतनी समझ नहीं आती कि उसके आसान लफ़्ज़ों को अपना कर हज़्म कर सकें। मुशकिल यह है कि हमारे दिखावे की आदत कहो या ग़ुलामी की बू जो लफ़्ज़ आए हैं बहुत से जूं के तूं आए हैं, उन्हें अपनाया नहीं। यही हालत उन फ़ारसी लफ़्ज़ों की है जो हमारी ज़बान में आगए हैं। आजकल उन्हें निकालने की कोशिश हो रही है। चाहिये तो यह था कि उन में से वह जो आसानी से आसान किये जा सकते हैं आसान कर लेते। अनपढ़ तो अब भी ऐसा कर लेते हैं; पत्थर तो हमारे पढ़े हुओं की अक़ल पर पड़े हैं जिन की कोशिश यह है कि या तो उन्हें जूं का तूं रखें या बिलकुल निकाल दें।

सब से ज़्यादा ख़राबी जो आज कल हो रही है वह है तदभव शब्दों की जगह ततसम शब्दों का लाना। यह लोग या तो जानते नहीं या जान कर अपनी पंडिताई दिखाने के लिये भूल जाते हैं कि शब्द भी ठोस चीज़ों की तरह जितना बरता जाएगा उतना ही मँजेगा और उसका वह हिस्सा ख़ास कर घिसेगा जो नोकीला है या जिस के बोलने में हलक़ या ज़बान को ज़्यादा ज़ोर लगाना पड़ता है। जितना कोई शब्द आम होगा उतना ही वह ज़्यादा बरता जाएगा और इसलिये ज़्यादा मँज कर ज़्यादा आसान होगा।

सदियों का यह काम पंडितों के मिटाए से नहीं मिटता। भाषा के विद्वान जानते हैं कि भाषा जैसे जैसे फैलती है लिखने वालों के मुक़ाबले में बोलने और सुनने वालों का उस पर असर बढ़ता जाता है। आख़िर भाषा समाज की दासी है वह जनता से कैसे मुंह मोड़ सकती है।

हमारे शब्द गढ़ने वालों को एक और वहम है। वह समझते हैं कि शब्द बोली की इकाई (unit) हैं। यह ग़लत है। बोली की इकाई जुमला (वाक्य) है। इस लिये कोई शब्द कितना ही आसान और सुन्दर क्यों न मालूम हो वह हमारी बोली में नहीं खप सकता अगर वह बोली की बुनावट में बुना न जा सके। मिसाल के तौर पर यह शब्द 'वाक्य' ही ले लो। कितना छोटा सुन्दर मालूम होता है। हमारी बोली में सिर्फ़ दो क़िसम के स्वर हैं छोटे और लम्बे। लम्बा स्वर छोटे का दुगना गिना जाता है। वाक्य का स्वर तिगना है और इसलिये हमारी बोली में घुस नहीं सकता। बोली के माइने जनता की बोली। वह बोली क्या जो जनता की न हो। हमारी बोली में तिगने स्वर के शब्द बनाने की अजब बीमारी चली है।

———

ताना-बाना और बुनावट

मैं पहले बाब में लिख आया हूं कि आदमी ने चिड़ियों और जानवरों की नक़ल कर के बोलना सीखा है। शायद आपने कभी ध्यान किया हो कि जब जानवर बोलते हैं तो वह हमेशा आवाज़ निकालते हैं यानी आवाज़ पैदा करने के लिये अपने फेफड़ों में से हवा बाहर फेंकते हैं। बहुत ही कम जानवर और वह भी कोई पंछी कभी कुभार सांस अन्दर लेते वक़्त एक नन्हीं सी हलकी आवाज़ पैदा करता है। जो आवाज़ सांस निकालते वक़्त पैदा की जाती है उसे बोली का ताना कहा जाता है और जो आवाज़ सांस अन्दर लेते वक़्त पैदा की जाती है उसे बोली का बाना कहा जाता है। जानवरों की बोली में तो ताना ही ताना होता है। शुरू में आदमी की बोली में भी ताना ही ताना था। यह तो साफ़ है कि जितना किसी बोली का ताना बाना बराबर हो उतना ही उस का बोलना आसान होता है। इसलिए ज्यों ज्यों इनसान ने तरक्की की उतना ही उस की बोली का ताना बाना बराबर होता गया। अब भी जितनी जंगली क़ौमें हैं उन की बोली का ताना बहुत बढ़ा हुआ होता है और जितना बढ़ा हुआ हो उतना ही उस के बोलने वाले ज़्यादा जंगली समझे जाते हैं।

हमारी बोली का ताना बाना अगर बिलकुल नहीं तो बहुत कुछ बराबर है। मेरे ख़याल में यह ख़ूबी जितनी हमारी बोली में पाई जाती है उतनी शायद ही किसी और बोली में पाई जाती हो। इस विचार से हम जितना अपनी बोली पर इतराएं थोड़ा है। यह माना कि बहुत सी क़ौमें ऐसी हैं जो विद्या में हम से बहुत बढ़ी हुई हैं लेकिन जिन की ज़बानों में हमारी बोली की यह ताने बाने की ख़ूबी अभी तक उतनी पैदा नहीं हुई। इस की वजह साफ़ है। विद्या किसी देस में एक दो सदी में बढ़ सकती है, ज़बान को

मंझते मंझते हज़ारों बरस नहीं तो सैकड़ों बरस चाहिये । हमारी सभ्यत को शुरू हुए पांच हज़ार बरस हुए और इसलिये जितना हमारी बोली का ताना बाना बराबर है शायद और किसी का नहीं ।

हमारी बोली की मैंने तारीफ़ तो कर दी लेकिन जब तक यह न बताऊं कि हमारी मैं किसे कहता हूं, यह मुमकिन है कि आपको धोका हो जाए । हमारी बोली असल में वह है जिसे घरेलू, गंवारू, बाज़ारी कहा जाता है । यानी अनपढ़ों की बोली, और जिसे सिर्फ़ वह चंद पढ़े हुए बोलते हैं जो खुशक़िसमती से ऐसे स्कूलों में से निकले हैं जहां पढ़ाया ही नहीं कुछ सिखाया भी जाता था । हर हाल में जो बोली स्कूलों में पढ़ाई जाती है या जो आप रेडियो में सुनते हैं वह हमारी बोली हरगिज़ नहीं । इस का ताना बाने से बहुत बढ़ा हुआ है और इसलिये मुक़ाबले में जंगली है । खुश-क़िसमती से इस गिरे हुए ज़माने में भी जब कि हमारी सरकार और हमारे पढ़े हुए हमारी बोली को जंगली बनाने के फ़िक्र में हैं अब भी ६८ फ़ी सदी घरों में हमारी मंझी हुई बोली ही बोली जाती है और कोई ताक़त नहीं जो इसे बिगाड़ सके ।

हिन्दुस्तान की बोलियों में से पंजाबी और सिंधी सिर्फ़ दो बोलियां हैं जिनका ताना बाना हमारी बोली की तरह बराबर है । गुजराती और बंगाली का भी दरजा काफ़ी ऊंचा है । ताने बाने के ख़याल से अंगरेज़ी और फ़ारसी भी अच्छी गिनी जाती हैं लेकिन इस के यह माइने नहीं कि फ़ारसी या अंगरेज़ी का हर एक लफ़्ज़ ज्यों का त्यों हमारी बोली में घुस सकता है । वजह साफ़ है । हर एक ज़बान की इस ताने बाने की बुनावट अलग होती है । फ़ारसी की बुनावट कुछ हमारी बोली की बुनावट से किसी किसी फ़िक़रे में मेल खा जाती है । अंगरेज़ी की बुनावट तो बिलकुल मेल नहीं खाती । भाषा विद्या का यह एक अटल अटूट नियम है कि किसी बोली में कोई ऐसा शब्द घुस नहीं सकता जो उस बोली की बुनावट में आसानी से बुना न

जा सके। यह नियम मेरी गढ़न नहीं है बल्कि यूरपी माहिरों ने दुनिया भर की ज़बानों की जांच पड़ताल कर के निकाला है। किसी ज़बान का व्याकरन तक को बदला जा सकता है लेकिन ऐसी कोई ताक़त नहीं जो किसी बोली की बुनावट को तीन चार सदियों में बदल सके। हमारी बोली की लगाम केवल दो के हाथ में है। एक तो वह जो हल के पीछे चलता है और दूसरी वह जो उस के लिये रोटी पकाती है।

हमारी सरकार, हमारे विद्वानों और असेम्बली के मेम्बरों के कानों में अभी तक बोली के ताने बाने और बुनावट की भनक तक नहीं पड़ी और न उम्मीद कि इस पीढ़ी में पड़े क्योंकि बहस में वह जितना लायक़ हैं उतना ही उनका दिमाग़ इतना पथरा गया है कि कोई नई बात वहाँ घुस नहीं सकती। अगर ऐसा न होता तो वह कभी भूल कर भी किसी देस का नाम प्रदेश न रखते। यह 'प्र' तो हमारी बोली की बुनावट में न कभी खपा और न कभी खप सकेगा। कम से कम दो हज़ार बरस हुए जब हमने इस 'प्र' को अपनी बोलियों में से निकाल फेंका था। यह बात ध्यान देने की है कि जितनी 'प्र' वाले शब्द हमने संस्कृत में से लिये उन सब के 'प्र' को 'पर' बना के लिये। ज़रा ग़ौर करिये इस 'प्र' को 'पर' बना देने में कितनी करामत कितना जादू है। 'प्र' को केवल 'पर' बना देने से इन शब्दों का ताना बाना बराबर होजाता है वरना ताना ही ताना राज करता है। प्रसन्न, प्रसाद, प्रमाण, प्रलोक वग़ैरा में ताना ही ताना है और परसन्न, परसाद, परमान, परलोक वग़ैरा का ताना बाना बराबर है।

संस्कृत का ताना ज़्यादा नहीं तो बाने से चारगुना ज़रूर है। क्या इस से बेहतर सबूत उस के कम सभ्य होने का होसकता है? लेकिन इस देस में उसे कम सभ्य कहना पाप है। हमारे बहुत से अच्छे समझदार लायक़ आदमी इस के पीछे पागल बने हुए हैं। उन का इस में दोष नहीं। यहां की हवा ही निराली है। बचपन से और शायद सदियों से

हमारे कानों में उठते बैठते यह बात भरी जाती है कि संस्कृत जैसी अच्छी कोई ज़बान नहीं। किसी विद्वान ने सच कहा है कि झूटी से झूटी बात अगर बचपन से कानों में भरी जाए तो वह समारे लिये वेद बन जाती है। मुझ पर भी मुद्दत तक यह जादू चला और मैं सत्तर बरस तक संस्कृत के ग़लत गुन गाता रहा।

हिज्जे

हिज्जे दो क़िसम के होते हैं। एक तो बोल हिज्जे, दूसरे लेख हिज्जे। अगर हिज्जे इस तरह किये जाएं जैसे शब्द बोले जाते हैं तो उन हिज्जों को बोल हिज्जे कहा जाता है और अगर उन में बोल की जगह पुरानी रसम या रीत का ख़याल किया जाए तो उन्हें लेख हिज्जे कहा जाता है। जैसे अंगरेज़ी में थाट को Thought या फ़रांसीसी में वरसाये को Versailles लिखा जाता है या जैसे हमारी हिन्दी में किशन को कृष्ण या रिशी को ऋषी लिखा जाता है जब कि अब हमें 'ऋ' के बोल का भी पता नहीं। कहा जाता है कि यह कभी स्वर थी अब तो व्यंजन 'र के साथ कहीं 'रि' कहीं 'रु' के तौर पर बोली जाती है। स्वरों की तरतीब में यह उ, ऊ के बाद आती है इसलिये 'रु' ज़्यादा ठीक मालूम होता है। यह ऋ, ष और 'ण' तो हमारी बोली में से उड़ गए हैं। इन्हें उड़े दो हज़ार बरस से ज़्यादा हो चुके हैं; संस्कृत के बनने से पहले, पाली में भी न थे। लेकिन अब तक यह हमारे बच्चों के सिर पर भूत की तरह सवार हैं। ब्राह्मणों की मेहरबानी से हमारा शिक्षा विभाग भी पुराना है। इस का नाम शिक्षा विभाग किसी ने ठीक रखा है क्योंकि संस्कृत में शिक्षा उस मज़मून (विद्या), को कहते हैं जिस में केवल शब्द और उन का बोल सिखाया जाता है। अब भी हमारे स्कूलों में बहुत कुछ तो शब्द ही शब्द और उन के बोल और हिज्जे सिखाए जाते हैं।

हमारे देस में मुसलमानों का भी राज हुआ और अंगरेज़ों का भी, और उन के साथ उन की ज़बानों का भी राज हुआ। नतीजा यह कि हमारी बोली में बहुत सी ऐसी आवाज़ें आगई हैं जिन के लिये हमारे पास कोई अक्षर नहीं और इसलिये उन आवाज़ों को लिखने के लिये अपने अक्षरों के नीचे बिंदी लगाते है। यह सब अपनी चतुराई दिखाने के लिये। यह तो

सब जानते हैं कि वह अक्षर जिनकी आवाज़ हमारी जनता की आम बोली में नहीं है वह जनता के राज में हमारी जनता की बोली में आ ही नहीं सकते। या यूं कहिये कि वह अक्षर जिन की आवाज़ आम आदमियों के गले से आसानी से नहीं निकलती वह परजा राज में हमारी बोली में नहीं आ सकते, चाहे वह अक्षर फ़ारसी के हों, अंगरेज़ी के हों या संस्कृत के ॥

यह तो सब मानते हैं कि बोल हिज्जे सब से अच्छे लेकिन अचरज की बात यह है कि दुनिया में कोई ऐसी ज़बान नहीं जिस के हिज्जे बिलकुल बोल हिज्जे हों। मुरदा ज़बानों का ज़िकर नहीं क्योंकि अब पता नहीं कि जब वह जीती थीं तो किस तरह बोली जाती थीं। अब जो हम उन्हें पढ़ते हैं तो हिज्जों के अनुसार; हम यह नहीं कह सकते कि वह लिखी गई थीं बोल के अनुसार। जीती जागती बोली के बोल हिज्जे न होने का एक कारण तो यह है कि जीती बोली उसी को कहते हैं जिसके बोलने के तरीक़े में कुछ न कुछ हमेशा अदल बदल होता रहे। अब यह एक अजब बात है कि अकसर आदमियों पर उस अक्स का असर ज़्यादा गहरा और टिकाउ होता है जो आँख के ज़रिये पैदा होता है बनिसबत उस अक्स के जो कान के ज़रिये पैदा हो। सच है देखने और सुनने में बहुत फ़रक़ है। नतीजा यह कि गो किसी शब्द की आवाज़ में कुछ अरसा बाद काफ़ी फ़रक़ हो जाए उसके हिज्जे वही रहते हैं। पिछली सदी तक हिज्जों के वही रहने का यह फ़ायदा ज़रूर था कि जिस देस में तालीम आम थी वहां बोलने के ढंग में फ़रक़ कम होता था बल्कि कहीं कहीं तो यह भी होता था कि कोई शब्द फिर हिज्जों के अनुसार बोले जाने लगे। जो ज़बान बहुत से देसों में बोली जाती हो वह क़ुदरती तौर पर सब जगह एक ही तरह नहीं बोली जाती इस लिये अगर हर एक देस के आदमी उस के हिज्जे अपने बोल के अनुसार करें तो उस ज़बान के हिज्जे किसी देस में कुछ और किसी में कुछ; जिस का नतीजा यह होगा कि एक जगह की छपी हुई किताब समझने में दूसरी जगह के रहनेवालों को कुछ तकलीफ़ होगी।

यह तो हैं दो कारन जो हर ज़बान में हिज्जों को बिलकुल बोल के अनुसार नहीं होने देते। पिछली सदी तक तो सब देसों में और अब तक बहुत से देसों में आदमी में यह कमज़ोरी रही है कि जब वह लिखने बैठता है तो उस तरह नहीं लिखता जिस तरह वह बोलता है बल्कि उस तरह लिखने की कोशिश करता है जिस तरह और लोग लिखते हैं। लफ़्ज़ों के हिज्जे ही नहीं, लफ़्ज़ और उन की तरतीब भी बदल जाती है। यह सब फ़ैशन का खेल है। इस की वजह यह बताई जाती है कि बोल तो बोलते ही हवा में गुम हो जाते हैं। उन में ठहराव नहीं। जो लिखा है वह कुछ देर टिकता है, इस लिये उस की काट छांट, सफ़ाई की जा सकती है। यह ही नहीं आप उस में अलंकार टांक सकते हैं। जिस तरह लोग लिखते थे उस तरह बोल सकना बड़ा हुनर गिना जाता था। बोलो जिस तरह लिखते हो। जहां जहां लम्बे चोग़ों और गोटे किनारी के कपड़ों का रिवाज छूटता जाता है वहां लोग उलटी बात कहने लगे हैं। लिखो जैसा कि बोलते हो।

यह गंगा उलटी क्यूं? एक वजह तो यह है कि इस सदी में ऐसे दो जंग हुए जिन्होंने दुनिया का जुग़राफ़िया बदल दिया। कहीं चले जाओ जीवन की नैया खेनी आसान नहीं रही। आदमी को फ़ुरसत कम काम ज़्यादा। नतीजा यह कि आटे दाल की तरह वक़्त की भी क़ीमत बढ़ गई। बात कम करो, लफ़्ज़ छोटे बोलो। लेकिन इन जंगों का असर गो लफ़्ज़ों और उन की बनावट पर काफ़ी पड़ा, उनके हिज्जों पर नहीं। जिन चीज़ों का असर ज़बान के दोनों हिस्सों बोल और लिखाई पर पड़ा, वह हैं सिनेमा, रेडियो, तसवीरी रेडियो और शायद ऐटम बम; जो इस सदी की ईजाद हैं। पिछली सदी तक तो पानी पर लिखना और बोलना बराबर था। अब बोल बांधा जा सकता है। बरसों तक और शायद सदियां तक उसे जीता रख सकते हैं। अब तक लेख का बोल बाला था क्योंकि हम उसे देख सकते थे और बोल सिर्फ़ सुन सकते थे! लेख जब चाहा निकाला देख लिया, बोल सुना और बस। अब हम किसी बोल को जब चाहें सुन ही नहीं सकते बल्कि

साथ ही बोलने वाले को बोलते देख भी सकते हैं। अब बोल का बोलबाला है। ज़रा सिर झुकाया प्रेमी की तसवीर देख ही नहीं ली अपनी और प्रेमी की मीठी बात चीत भी सुन ली। नतीजा यह कि साहित्यी भाषा और उस के हिज्जों की वह बड़ाई जाती रही। मैं अपने देस का ज़िकर नहीं कर रहा हम तो हैं पुराने लकीरिये। जो दुनिया आज करती है, हम बरसों बाद करते हैं और मजबूर होकर करते हैं। यूरपी ज़बानों की तो इस सदी में शकल ही बदल गई। और ज़बानों को तो छोड़िये, अंगरेज़ी को ही लीजिये जिस का सुधार मैंने देखा भी है सुना भी है। हमारे स्कूलों में तो अभी तक उन्नीसवीं सदी की अंगरेज़ी पढ़ाई जाती है। इंगलैंड जाइये, वहां उन्नीसवां सदी की अंगरेज़ी पुरानी अंगरेज़ी मालूम होती है। बी० बी० सी० पर भी वह पिछली सदी की लच्छेदार साहित्यी अंगरेज़ी कम ही सुनाई देती है। हमारे भारती और पाकिस्तानी दोनों रेडियो पर खबरें तक कठिन साहित्यी ज़बानों में पढ़ी जाती हैं। लेकिन फिर भी हमारी बोली पर रेडियो से ज़्यादा सिनेमा की चालू बोली का रंग ज़्यादा गहरा पड़ रहा है। सच है देखने और सुनने में बड़ा फ़रक़ है।

मुझे मालूम नहीं कि हमारा लफ़्ज़ पंडित और लातीनी लफ़्ज़ पेडंट एक ही धात से निकले हैं या नहीं, लेकिन इस में शक नहीं कि हमारे पंडित वही काम कर रहे हैं जो पेडंटों ने यूरप में ज़बानों से किया। यूरप की ज़बानों में स्पैनिश और जरमन के हिज्जे खासे बोल हिज्जे हैं। अंगरेज़ी और फ़रांसीसी के हिज्जे बहुत बिगड़े हुए हैं। इन ज़बानों का इतिहास इस बात का गवाह है कि इन देसों में जब यह ज़बानें उभरने लगी थीं तो वहां पांडितरी (पेडंतरी) का बड़ा ज़ोर था। इन मुल्कों से भी ज़्यादा आइरलैंड और तिब्बत में पांडितरी का बड़ा ज़ोर रहा है। नतीजा यह कि आइरिश और तिब्बती में हिज्जों को बोल से बराए नाम ही वास्ता है। हमारे देस में पांडितरी बड़े जोरों पर है।

ग्रामर व्याकरण

जब मैं कालेज में पढ़ता था और उस के बाद बहुत बरसों तक जब तक मैंने कोई किताब ज़बानों के इतिहास पर नहीं पढ़ी मैं संस्कृत को कुँकृत यानी ग़लत बनी हुई कहा करता था। वजह यह कि इस की ग्रामर की कोई कल सीधी न थी। तीन लिंग, पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुँसक और ख़ूबी यह कि उन में भी कोई ख़ास तमीज़ न थी। एक ही चीज़ का कोई नाम पुलिंग, कोई स्त्रीलिंग और कोई नपुँसक। तीन वचन, एक वचन, दुवचन और बहुवचन। आठ हालतें (रूप) संज्ञा (नाउन) और क्रिया (वर्ब) के (रूप) क़िसम क़िसम के और हर एक क़िसम में बहुत से भेद और छूट। अरबी पढ़ने वालों से इतना तो मालूम हो गया था कि अरबी में भी इसी तरह की गड़बड़ है। संस्कृत के व्याकरन की तरह अरबी की सर्फ़ व नह्व सीखने के लिये दो तीन साल का रगड़ा ज़रूरी है। उन के मुक़ाबले में अंगरेज़ी और हिन्दोस्तानी की ग्रामरें बच्चों का खेल हैं। यह हैं हमारी धरमी ज़बानें जिन्हें हम पूजते हैं। मेरे पंडित जी ने पानिनी रट ली थी। वह उसी पर लट्टू थे और क्यों न होते, उन्हें और कुछ आता ही न था। बहुत ख़फ़ा हुए कुँकृत का शब्द सुनकर। मैं जानता हूं कि मेरी भूल थी। ज़बान का नाम संस्कृत ठीक रखा गया था क्योंकि उस से जो पहले ज़बान वेदिक थी उस की ग्रामर संस्कृत से भी ज़्यादा पेचीदा और उलझी हुई थी। यह ख़राबी संस्कृत और अरबी में ही नहीं दुनिया भर की सब पुरानी ज़बानों में पाई जाती है। जितनी कोई क़ौम कम सभ्य होती है उतनी ही उस की ग्रामर मुशकिल होती है; और कैसे न होती जब हर ज़बान के शुरू में लफ़्ज़ों से पहले जुमले और टुकड़े बने थे। अगर हमारे पास आज कल

के हिन्दुस्तानियों के मुक़ाबले में पुराने आर्यों के कम सभ्य होने का और कोई सबूत न होता तो उन की ग्रामर ही काफ़ी थी। यह ठीक सही कि ऐसा ज़माना था जब हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में और बहुत से मुल्कों की निसबत रोशनी ज़्यादा थी लेकिन इस से यह नतीजा निकालना कि कभी ऐसा ज़माना था जब हिन्दुस्तान जितनी रोशनी और किसी मुल्क में न थी हमारी नादानी है। यह ख़्याल कि हमारे बज़ुर्ग हम से कभी बहुत ज़्यादा लायक़ थे हमारी ग़लत तालीम का नतीजा है। अब भी बीसवीं सदी में बहुत से घरों में यह सिखाया जाता है कि हम ब्रह्मा में से निकले हैं न कि बन्दरों से।

आज कल भी जितनी असभ्य क़ौमें हैं उन में तीन वचन हैं, एक, दो और बहु वचन। यह उस ज़माने की यादगार है जब आदमी को केवल दो तक गिनना आता था। एक, दो और बहुत। अरबी का इतिहास इस बात का गवाह है कि जितनी रोशनी अरबों में बढ़ती गई उतना ही दुवचन का इस्तेमाल कम होता गया। अरबी का इतिहास पढ़ने से एक और बात जो हम सीखते हैं वह यह है कि जितनी जहालत किसी क़ौम में हो उतनी ही वह क़ौम अपनी ग्रामर की ज़्यादा पाबंद होती है। पढ़े हुए तो कभी ग्रामर के किसी क़ायदे पर बहस कर लें लेकिन अनपढ़ कभी ग्रामर की ग़लती न करेगा न करने देगा। दूसरी तीसरी हिजरी में अरबी विद्वानों को जब कहीं किसी अरबी ग्रामर के क़ायदे की बाबत शक होता था तो वह अनपढ़ बद्दूओं से ही दरुस्त क़ायदा पूछते थे। संस्कृत में भी जब कहीं किसी कवि ने ग्रामर की ग़लती की है तो उसे रिशी का वाक्य कह कर टाल दिया जाता है; यानी लायक़ों के लिये ग्रामर की क़ैद ज़रूरी नहीं।

गो भाषा विद्या के सारे विद्वान इस बात से सहमत हैं कि जितनी किसी ज़बान की ग्रामर मुशकिल होती है उतने ही आसार उस ज़बान में असभ्यता के बाक़ी हैं; यह कोई नहीं कहता कि ग्रामर होनी ही नहीं चाहिये। ग्रामर ज़रूरी है लेकिन इतनी कि जिनकी मादरी ज़बान है उन्हें इस के सीखने

की ज़रूरत ही न हो, और जिनके लिये ग़ैर ज़बान है उन्हें उस की ग्रामर सीखने के लिये एक दो सफ़े से ज़्यादा पढ़ने न पड़ें। उनीसवीं और बीसवीं सदी में यूरप के कुछ विद्वानों ने सात आठ नई ज़बानें इस ग़रज़ से बनाई हैं कि उन्हें सारी दुनिया वाले आसानी से सीख सकें ताकि आपस में मेल जोल बढ़े। इन सब में ग्रामर बहुत ही आसान कर दी गई है। मसलन एक बचन से बहु बचन बनाने का एक ही तरीक़ा है। लिंगों का भी एक ही भेद रखा गया है। संज्ञा (नाउन) का विशेषण (एडजेक्टिव) और क्रिया (वर्ब) बनाने की तरकीबें भी एक एक ही है। सारी तरकीबें ऐसी सादा कर दी गई हैं कि भूल की गुंजाइश ही नहीं। यहां तक कि लफ़्ज़ की शकल ही बता देती है कि वह संज्ञा है, विशेषण है या क्रिया वग़ैरा है। यह तो सब हैं बनावटी ज़बानें। अफ़सोस तो यह है कि कुछ लोग जो बनावटी बोली यहां बना रहे हैं वह इस गुर को जानते ही नहीं। शायद उन्हों ने कभी इस तरफ़ ध्यान भी नहीं दिया। ज़िंदा ज़बानों की ग्रामर आसान बनाना आसान काम नहीं लेकिन अगर कोशिश की जाए, तो किसी हद तक कामयाबी हासिल की जा सकती है। उसकी एक मिसाल तो रूसी ज़बान है जिस की ग्रामर गो अब भी काफ़ी से ज़्यादा पेचीदा है लेकिन चंद साल हुए बहुत ज़्यादा उलझी हुई थी। सोवियट का जब शिक्षा विभाग बना तो उस ने रूसी हरफ़ों की गिनती में ही कमी न की बल्कि बहुत सी ग्रामरी गुत्थियाँ भी सुलझाईं। यह बात ध्यान देने की है कि सोवियट के आने से पहले रूसी अदबी दुनिया में टालस्टाय और पुशकिन जैसे उस्ताद हो चुके थे। हमारे यहां, सच पूछो तो, उरदू और हिन्दी दोनों में सच्चे अदब का अभी तक ढांचा भी खड़ा नहीं किया गया और इस लिये हम तो यह काम ज़्यादा आसानी से कर सकते हैं और ज़रूर करेंगे जिस दिन हमारे यहां सच्चा प्रजा राज होगा। गो आज कल हमें अंगरेज़ों से आज़ादी मिल गई है और हमारी सरकारें प्रजा राज का प्रचार कर रही हैं लेकिन हिन्द और पाकिस्तान दोनों में अभी तक ज़ोर

पूँजी वालों का और ख़ास कर पादरियों का है। तुरकों और ईरानियों ने अरबी लफ़्ज़ ही अपनी ज़बान से नहीं निकाले बल्कि अरबी तरकीबें भी निकाल दी हैं और इस तरह से अपनी अपनी ग्रामर को भी सुधार लिया है।

फ़ारसी की ही नहीं अरबी की भी बहुत सी तरकीबें उरदू में आ घुसी हैं। ईरानियों के लिये उनका निकालना आसान था। हमारे लिये मुशकिल है क्योंकि यहाँ पादरियत ज़ोरों पर है, इस लिये हर मामले में मज़हब का सवाल पैदा हो जाता है। अब बड़े ज़ोरों से संस्कृत की तरकीबें हिन्दी में लाई जा रही हैं। यह भी ज़रूर धर्म की आड़ लेंगी। अब ज़माना आने वाला है जब अंगरेज़ी तरकीबें भी लाई जाएंगी। इन फ़ारसी, अरबी, संस्कृत और अंगरेज़ी तरकीबों को निकालना ही पड़ेगा। मुझे ज़बान की शुद्धताई का तो इतना ख़याल नहीं, उसको आसान बनाने का है। अगर शिक्षा विभाग इतना ही कर दे कि कोई किताब किसी स्कूल में न पढ़ाई जाए जिस में यह तरकीबें बरती गई हों तो यह मुशकिल जल्दी हल हो सकती है। तरकीब से मेरी मुराद है जमा का सीग़ा, जिन्स की तमीज़ वग़ैरा। जैसे लफ़्ज़ की जमा लफ़्ज़ों हो न कि अलफ़ाज़, शरीफ़ की शरीफ़ों न कि शुरफ़ा, फ़ुटों न कि फ़ीट, चरनों न कि चरनन, नयनों न कि नयनन; पंडितानी न कि पंडिता; इसी तरह से एशिया से एशियाई न कि एशियन या एशियाटिक, योरुपी न कि योरुपियन, धर्म से धर्मी न कि धार्मिक, शुद्ध से शुद्धी न कि शोध।

हिन्दुस्तानी में संज्ञा (नाउन), विशेषण (एडजेक्टिव) और क्रिया (वर्ब) तीनों का लिंग एक ही होना ज़रूरी है। अच्छा आदमी आता है। अच्छी औरत आती है। संस्कृत में क्रिया में लिंग नहीं होता अगरचे संज्ञा और उसके विशेषण का लिंग एक ही होता है। संस्कृत और हिन्दुस्तानी में यह फ़रक़ क्यों है। कैसे और कब से हुआ—ऐसे सवाल हैं जिन पर जहाँ तक मुझे इल्म है किसी ने कोई ऐसी किताब नहीं लिखी जो मेरे

जैसा मामूली आदमी समझ सके। मुमकिन है किसी ने इस तरफ़ ध्यान ही नहीं दिया। मेरी राय है कि यह भेद इस बात का सबूत है कि यह हमारी खड़ी बोली जिसे हम राज बोली बनाना चाहते हैं संस्कृत या संस्कृत की ही नसल में से नहीं निकली बल्कि इबरानी या अरबी नसल से भी इसका गहरा नाता है। चूंकि स्कूल में मुझे और शायद आपको भी यह सिखाया गया था और अब तक पढ़ाया जा रहा है कि संस्कृत ही हमारी बोली की मां है और चूंकि हम हिन्दुओं को (और ख़ासकर पाकिस्तान बनने के बाद) अरबी से कुछ चिढ़ है इस लिये मैं अच्छी तरह से समझ सकता हूं कि मेरी यह बात आपको उतनी ही बुरी मालूम होगी जितनी मुझे लगी थी जब यह ख़याल पहले पहल मुझे सूझा था। चूंकि यह और कहीं मैंने नहीं पढ़ा इस लिये उचित है कि मैं खोल कर लिखूं कि यह बात मुझे क्यों सूझी। हिन्दुस्तान की किसी और बोली में क्रिया में लिंग नहीं। काशमीरी, गुजराती, बँगला, तामिल, तेलगू आदि में ही नहीं, यू.पी. की किसी बोली अवधी, ब्रज भाषा, भोजपुरी, बिहारी तक में भी नहीं। लिंग के मामले में यह सारी बोलियाँ संस्कृत से मिलती जुलती है। बोलियों के विद्वानों की यह राय है कि किसी बोली की कोख (साख) पहचाननी हो तो उसकी हड्डी (बनावट, ग्रामर) पर ज़्यादा ध्यान दो और उस के लफ़्ज़ों की शकल पर कम। क्रिया में लिंग सिर्फ़ दो ही और ज़बानों में पाया जाता है वह हैं अरबी और रूसी। लफ़्ज़ों की बाबत भी बोलियों के विद्वानों की राय है कि उन ही लफ़्ज़ों पर ध्यान देना चाहिये जो घरेलू निजी हों। यह मानी हुई बात है कि लातीनी, अंगरेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत के निजी घरेलू लफ़्ज़ एक ही थैली के चट्टे बट्टे हैं लेकिन हमारे वही निजी लफ़्ज़ बाप, बेटी, जोरू, खसम, तवा, रोटी आदि सेमिटिक मालूम होते हैं। अब यह अचरज की बात नहीं है। पिछले दस पन्द्रह बरस में जो ईराक़ और शाम में खुदाइयाँ हुई हैं उन से यह साबित है कि पांच हज़ार बरस हुए जो सभ्यता सिंध और पंजाब में थी वह वही थी जो उन दिनों ईराक़ और शाम में फैली हुई थी। इस से एक

नतीजा यह भी निकलता है कि उन दिनों की पंजाब और सिंध की बोलियों में और ईराक़ और शाम की बोलियों में कुछ बहुत भेद न होगा। इस पुरानी सभ्यता को सुमेरी कहते हैं। मुमकिन है कि हमारी पहली प्राकृत का नाम सूरसैनी इस सुमेरी से ही निकला हो।

बोलियों के विद्वान दुनिया भर की बोलियों में से जिन बोलियों को सब से ऊंचा दर्जा देते हैं वह हैं पहली स्पैनिश दूसरी अंगरेज़ी और तीसरी फ़ारसी (ईरानी)। इन की और ख़ूबियों में से एक बड़ी ख़ूबी यह है कि इन तीनों में क्रिया और विशेषण का कोई लिंग नहीं होता। और इसलिये भी यह ज़बानें और ज़बानों से बहुत आसान हैं। माने यह कि जितनी कोई बोली बोलना सीखना आसान हो उतनी ही वह बोली अच्छी गिनी जाती है। क्या हम अपनी बोली के क्रिया और विशेषण में से लिंग निकाल कर अपनी बोली को आसान बना सकते हैं? मेरा ख़याल है कि अगर हमारा शिक्षा विभाग ज़रा भी इधर ध्यान दे तो विशेषण में से तो लिंग आसानी से उड़ाया जा सकता है। फ़ारसी और संस्कृत के जो लफ़्ज़ विशेषण के हमारी ज़बान में आ रहे हैं, उन में लिंग नहीं। जैसे सुन्दर नर, सुन्दर नारी; नेक मर्द, नेक औरत। ज़रा सोचो तो सही कि यह छोटा सा सुधार करने से हमारी बोली ग़ैरों के लिये ही नहीं हमारी संतान के लिये कितनी आसान हो जायगी।

क्रिया में लिंग हमारी बोली में इतना घुस गया है कि इस का निकालना नामुमकिन मालूम होता है। लेकिन इसलिये हिम्मत हारना मरदों का काम नहीं। मैं यह भी जानता हूं कि किसी गिरी हुई क़ौम में ग्रामर का कोई नियम बदला नहीं जा सकता। क्या हम बीसवीं सदी में भी अभी तक इतने गिरे हुए हैं। मैं तो यह मानने को तय्यार नहीं। हमारे पंडित चाहे कुछ ही कहें। आज कल हमारी कोशिश है कि हमारी बोली राज बोली बने। कशमीर, मदरास, बंगाल आदि के लोग इसे सीखें, बोलें। उन की बोलियों में तो क्रिया का लिंग नहीं। अगर वह हिन्दी बोलने लगे तो उन की बोलियों

का पहला प्रभाव जो हमारी बोली पर पड़ेगा वह क्रिया में से लिंग निकलने का। हमारी बोली फैल ही नहीं सकती जब तक इस में यह सुधार न हो। अगर दिल्ली सौ दो सौ बरस और राजधानी रही तो यहां की बोली फैलेगी और उस का लिंग का कलंक भी मिटेगा। अगर हमारे शिक्षा विभाग वाले जाग जाएं तो यह सुधार जल्दी हो जायगा। उन से अभी उम्मीद करना बेकार है। यह है मामला बुनियाद का। वह तो हमारी बोली के कलस तय्यार करने की फ़िकर में हैं।

हमारी बोली को जितना लिंग का कलंक मुशकिल बना रहा है उतना हमारे पंडित और मौलवी भी नहीं बना सकते। कभी सोचो तो सही यह लिग ग़ैरों के लिये ही नहीं हमारे लिये भी कितना कठिन है। मिसाल के तौर पर मुझे ही लो। इसे आप चाहे हिन्दी कहिये, हिन्दुस्तानी कहिये यही मेरी मां-बोली है। इसी की गोद में मैं पला, और बूढ़े से भी ज़्यादा बूढ़ा हुआ लेकिन अभी तक इस में ग़लती कर जाता हूं। ख़ैर अब भी अगर कोई कहे 'औरत जाता है' तो उसे ग़लत कहना नादानी है। लफ़्ज़ और उन की बनावट जिस तरह ज़बान में बदलती रहती है उसी तरह ग्रामर भी वही नहीं रहती। ज़बान आप तो कोई चीज़ नहीं, उस का होना ही बोलने और सुनने वाले के होने से पैदा होता है। अगर एक कुछ कहे और दूसरा समझ ले तो जो कहा गया है ठीक है। ग्रामर महावरे वग़ैरा की परवाह नहीं सिर्फ़ मतलब से ग़रज़ है। अगर आप नहीं समझते तो क़सूर मेरा और अगर आप मेरा मतलब समझकर मेरी ज़बान को बुरा कहते हैं तो क़सूर आप के स्कूल का।

हमारे क्रिया के लिंग में एक और बेढंगापन है। क्रिया का लिंग सदा वह नहीं होता जो कर्ता का है। अगर कर्ता के पीछे 'ने' लग जाए तो क्रिया का लिंग कर्ता का नहीं कर्म का हो जाता है। जैसे राम बिल्ली मारता है और

राम ने बिल्ली मारी। मेरे और आप के लिये यह हेर फेर मामूली सही, किसी बंगाली या मदरासी से पूछिये !

इस लिंग के सिवाय हमारी मां-बोली की निजी ग्रामर बहुत ही छोटी है। जैसे मैं ऊपर लिख आया हूं बोलियों के विद्वान इस बात में सहमत हैं कि ग्रामर जितनी छोटी हो उतना ही अच्छा। रोना इस बात का है कि हमारे शिक्षा विभाग की यह राय नहीं है। उरदू वालों ने इस में फ़ारसी की ग्रामर झोंक दी। शुकर इतना ही है कि फ़ारसी की अपनी ग्रामर छोटी है। हिन्दी वालों ने संस्कृत की सारी मुसीबत इस में डाल दी। जैसे संस्कृत में आठ रूप (हालतें) हैं वैसे हमारी ग्रामर में भी आठ रूप ! हर स्कूल में यही ग्रामरें पढ़ाई जाती हैं।

राज बोली बनने के लिये हमारी बोली को एक और बीमारी से छुटकारा पाना होगा, जो इस वक़्त हमारे पांव की बेड़ी बनी हुई है। यह है ऊंच नीच की, जात पात की जो ब्राह्मणों के दस पन्दरह सदियों के लगातार अत्याचारों ने हमारी बोली में पैदा कर दी है। चूंकि ब्राह्मण राज को अभी फिर ज़ोर करना है इस लिये यह बीमारी कुछ दिन और ज़ोर पकड़ेगी लेकिन केवल कुछ दिन ही। जैसे हिन्दुओं में चार जातें हैं या रेल में चार दरजे इसी तरह हमारी क्रिया में भी ऊंच नीच के चार दरजे हैं। जैसे (१) चल, (२) चलो, (३) चलें और चौथा चलिये। मुद्दत तक मैं इसे अपनी बोली की नफ़ासत समझता रहा हूं और इस पर घमंड करता रहा हूं। लेकिन अंगरेज़ी में कुछ किताबें बोली पर पढ़कर मुझे अब पूरा विश्वास हो गया है कि यह बीमारी सिर्फ़ उन ही बोलियों में पाई जाती है जिस के बोलने वाले सैंकड़ों बरसों के ज़ुल्म के कारण दबे हुए हों। एक बचन का बहुबचन बनाना जैसे "सेठ जी कहते हैं" और "तुम" की जमा "आप" करना यह सब हमारे सदियों तक दबे रहने के फल हैं। अपने दिल को शान्ती देने के लिये या औरों को धोका देने के लिये हम अपनी आत्म शक्ति को कितना

ही सराहें, हमारी ही बोली हमें साफ़ झुटलाती है। यह तो सब जानते हैं कि जुग़राफ़िये या देस के समाजी आर्थिक वग़ैरा रूपों का देस की बोली पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह कम जानते हैं कि बोली का भी जुग़राफ़िये पर काफ़ी असर पड़ता है। इसके माने यह हुए कि जब तक हमारे समाज में कोई छोटा, कोई बड़ा है हमारी क्रिया में यह दरजे रहेंगे और जब तक हमारी बोली में यह दरजे हैं समाज में सच्ची बराबरी होना नामुमकिन है।

क्रिया में जिन्स (लिंग) क्यों पैदा हुआ? हमारी बोली में ही नहीं बल्कि अरबी और रूसी में भी। चूँकि यह बीमारी किसी योरपी बोली में नहीं, ऐसा मालूम होता है कि योरप वालों ने इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया, कम से कम मेरी नज़रों से कोई ऐसी किताब नहीं निकली जिस में इस बात पर ध्यान दिया गया हो। मुमकिन है इस की वजह भी वही हो जिस वजह से हमारी क्रिया में दरजे पैदा हुए हैं, यानी सदियों के एक जात के दूसरी जात पर लगातार अत्याचार। शायद सुमेरी सभ्यता में मरदों ने औरतों पर बहुत ज़्यादा और सदियों तक बहुत ज़ुल्म किये हों! यह तो हम जानते हैं कि आर्याइ सभ्यता में औरतों को कभी ऊंचा पद कभी नीचा पद दिया गया है। ज़ुल्म तो औरतों पर बहुत हुए लेकिन लगातार नहीं और इस लिये किसी किसी आर्य बोली में विशेषण में तो जिन्स आगया, पर क्रिया में न घुस सका। यही हाल मंगोलियन और द्रविड़ बोलियों का है।

उरदू और हिन्दी

उरदू और हिन्दी का झगड़ा कुछ बहुत पुराना नहीं, लेकिन खिंचना खिचता इतना लम्बा हो गया है कि अब धर्म का भाग बन गया है। दो बोलियों का आपस में झगड़ा सदा से चला आया है और होता रहेगा। जिस तरह से यह झगड़े और देसों में निपटे हमारे देस में भी निपटेंगे। यह देखने के लिये कि और मुल्कों में यह झगड़े किस तरह तय हुए, यह मुनासिब है कि हिन्दुस्तान की ज़बानों पर और और देसों की ज़बानों पर सरसरी नज़र डाली जाए।

पांच हज़ार बरस हुए हिन्दुस्तान में आर्यों के आने से पहले उत्तरी हिन्दुस्तान की क्या बोली थी उस की बाबत हमें कुछ इल्म नहीं क्योंकि उन लेखों को जो उस ज़माने के हमें मिले हैं अभी तक कोई पढ़ नहीं सका। आर्यों ने यहाँ के रहने वालों को दस्यू, नकफीने, कपटी, जंगली आदि कहा है। पिछली सदी तक तो जो कुछ वह लिख गए हैं सच माना जाता था लेकिन अब हम जानते हैं कि जब आर्य यहाँ आए थे वह उठाऊ चूल्हे थे। खेती बाड़ी यहाँ आकर उन्होंने सीखी। उन की शुरू की वेदिक ज़बान भी यहाँ की पहली बोली के मेल से पैदा हुई और वह भी बहुत दिन जी न सकी। बौद्धों और जैनियों ने यहाँ की बोलियों में प्रचार शुरू किया। जब उन के प्रचार से ब्राह्मणों के जात के क़िले गिरने लगे तो उन्होंने संस्कृत बनाई। शुरू में तो यह केवल धरमी बोली बनी। जब ब्राह्मणों का क़िला जात फिर मज़बूत हो गया उन्होंने इसे दरबारी ज़बान बनाली। उस के बाद यह अदबी (साहित्यिक) ज़बान बन गई। अदबी बनकर इस ने वह रंग रूप निकाला कि हिन्दुस्तान में ही नहीं आस पास के देसों में भी राज करने लगी।

सातवीं सदी बी. सी. में ईरानियों ने पच्छिम में मिस्र तक और पूरब में सिंध दरिया तक अपनी हकूमत क़ायम की। पांचवी सदी बी. सी. में उन का दारा के राज में सितारा ख़ूब चमका और झेलम की नदी पर उन का क़ब्ज़ा हो गया। अभी संस्कृत नहीं बनी थी। उस के पहले भी बहुत से लोग ईरान से और ईरान के रास्ते हिन्दुस्तान में आए। इन लोगों के ज़रिये और ईरानी राज के कारण पुरानी फ़ारसी से बहुत से लफ़्ज़ हिन्दुस्तानी ज़बानों में आए। कुछ तो संस्कृत ने ही अपना लिये और कुछ हमारी पुरानी प्राकृत सूरसैनी में शामिल हो गए। यह आम ख़याल कि संस्कृत एक शुद्ध भाषा यानी परदेसी लफ़्ज़ों से पाक है, ग़लत है। इसी तरह यह ख़याल भी ग़लत है कि फ़ारसी के सारे लफ़्ज़ हमारी बोली में मुसलमान लाए। बहुत से लफ़्ज़ तो मोहम्मद साहब के पैदा होने से पहले आ चुके हैं जैसे अनार, रोटी, तवा, बराबर। इस लिये यह ख़याल भी ग़लत है कि फ़ारसी के लफ़्ज़ों के बरतने से हिन्दी वालों का धर्म बिगड़ता है। यहाँ हिन्दू पानी और मुसलमान पानी तो है ही अब हिन्दू शब्द और मुसलमानी लफ़्ज़ भी हो गए हैं। दुनिया के खेल का चमत्कार देखिये, मुसलमान पानी और हिन्दू पानी का तो भेद कम हो रहा है, लफ़्ज़ों का भेद ज़ोरों पर है।

संस्कृत के बनाए जाने के तीन चार सौ बरस पहले जैन और बौद्ध धर्म यहाँ पैदा हुए बिहार की तरफ़। वहाँ की भाषा में ही प्रचार शुरू हुआ। बौद्ध मत बहुत फैला, यहाँ तक कि रावलपिंडी के पास तक्षशिला में इस की यूनीवरसिटी बनी। लगभग २५० बी सी. में अशोक ने एक ऐसी बोली को जो यहाँ की बहुत सी बोलियों के जोड़ से पैदा हुई थी अपनी दरबारी ज़बान बनाली। अब इसे पाली कहते हैं। तक्षशिला में पाली में तालीम दी जाती थी। लेकिन वहाँ यह धरमी और इलमी ज़बान ही रही। अदबी ज़बान तो यह दक्खिन में जा कर बनी और मँजी यह जा करल का में।

शुरू तो हुई यह सीधी सादी मागधी प्राकृत से लेकिन जब इस के पैर जम गए और उभरने लगी इस पर वैदिक ने हमला किया। यह एक और मिसाल है उस अटल कुदरती कानून की। जब कोई बोली इलमी सूरत अखतियार करने लगती है तो आस पास जो इलमी भाषा हो वह उस पर छा जाती है। नतीजा यह कि संस्कृत की तरह यह भी शायद किसी देस, शहर या गांव में बोली नहीं जाती थी। इस में और संस्कृत में इतना फ़रक़ ज़रूर रहा कि संस्कृत में तो लफ़ज़ों को मुशकिल बनाने की कोशिश की गई, पाली में आसान। जैसे संस्कृत का कर्षति जो हिन्दुस्तानी में काढ़े है, पाली में कढ़े; संस्कृत विद्युत, हिन्दी बिजली, पाली बिज्जू; संस्कृत अक्षी, हिन्दी आंख, पाली और पंजाबी अखी।

पाली आज कल पढ़ाई नहीं जाती नहीं तो यह मालूम हो जाता कि हमारी आज कल के हिन्दुस्तानी लफ़ज़ों की शकल इतनी संस्कृत के शब्दों से नहीं मिली जितनी पाली के शब्दों से। वजह यह है कि पाली तो बनी थी बिहारी और यूपी की बोलियों के जोड़ से। उन दिनों में भी बिहार और यूपी में सब जातों के लोग बसते थे और इस लिये यहां की बोलियों को हिन्दुओं की बोलियां कहना उचित होगा। संस्कृत भी उन ही दिनों में बनाई गई लेकिन कशमीर में। उन दिनों कशमीर में सिर्फ़ ब्राह्मण रहते थे। ऐसा मालूम होता है कि कशमीर में आर्यों की कोई ऐसी शूर वीर कौम जा बसी थी जिन्होंने वहां के असली रहने वालों का बीज तक नास कर दिया था और इसलिए उन की बोली तीसरी चौथी सदी बी० सी० तक बहुत कुछ वैदिक और पैशाची से मिलती जुलती थी। आर्यों को यहां आए हज़ार बरस से ज़्यादा हो चुके थे। हज़ार बरसों में हर बोली में जो कि बोली जाती हो ज़मीन आसमान का फ़रक़ हो जाता है। उस ज़माने की कशमीरी बोली भी बोलने में आसान हो गई होगी। यूपी के ब्राह्मणों को उस कशमीरी का तो ज्ञान न था लेकिन वैदिक की सुध बुध थी इसलिये बौद्ध मत के प्रचार को रोकने के लिये संस्कृत का सहारा लिया गया और उसे वैदिक शकल देने के लिये जान

बूझ कर मुशकिल बनाया गया और ऐसा बांधा गया कि वह हिल न सके। पाली बौद्धों की ज़बान बनी और संस्कृत ब्राह्मणों की। पाली आसान, संस्कृत मुशकिल। पाली में आठ स्वर अ-आ-इ-ई-उ-ऊ-ए और ओ। संस्कृत में सोलह—संस्कृत में 'स','ष' और 'श' पाली में केवल 'स' जिस से साफ़ ज़ाहिर है कि 'ष' और 'श' की आवाज़ हमारे उत्तर खंड की बोलियों में से निकले हज़ारों बरस हो गए हैं। 'ष' तो शायद हमें कभी बोलना आया ही नहीं और 'श' बोलना तो हम ने बहुत कुछ मुसलमानों से सीखा। आम आदमियों की बोली में 'श' सिर्फ़ फ़ारसी लफ़्ज़ों में बोला जाता है। संस्कृत सदियों तक बतौर धरमी और इलमी ज़बान इस्तमाल होती रही। ज्योतिष, गणित धर्म और क़ानून पर अच्छी अच्छी किताबें इस में लिखी जाती रहीं। गो इलमी ज़बान यह हज़ार बरस रही, बोली यह कहीं नहीं जाती थी। जो थोड़े बहुत आदमी इसे जानते थे वह भी दरबार या कचहरी या शास्त्रार्थ में चाहे इसे बोल लें, घर में नहीं बोलते थे। औरत चूंकि कोई इसे बोलती न थी इसलिये यह कभी किसी की मां-बोली नहीं बनी। अगर मातृ-भाषा के माइने हैं मां की बोली तो इसे मातृ भाषा कहना भूल है और अगर मातृ भाषा के माइने है हमारी भाषा की मां तो यह भी ग़लत है क्यों कि यह आप बनाई गई हमारी बोलियों से।

मुसलमानों के आने के बाद संस्कृत के पुजारियों की गिनती रोज़ बरोज़ घटती गई। यह धरमी ज़बान भी न रही। अक्सर ब्राह्मण शाक्त और शैव हैं। दूसरे हिन्दू अक्सर वैश्नव (विश्नू के पुजारी) हैं। शाक्तिक किताबें संस्कृत में और वैश्नव पुस्तकें हिन्दुस्तानी बोलियों में बनीं। हिन्दुस्तानी बोलियों का ज़ोर बढ़ता गया। नतीजा यह कि इन में एक सलेबली लफ़्ज़ों की गिनती ख़ूब बढ़ी और उन में मिठास आगई। इस पर ब्राह्मण और उन के चेले शोर मचाने लगे और आज कल उल्टी गंगा बहाने में लगे हुए हैं। अपनी हिन्दी ही देख लो रात को रात्रि, पूनो को पूर्णिमा, आग को अग्नि और इस तरह सैंकड़ों लफ़्ज़ों को मुशकिल बनाया जा रहा है।

बिलकुल इसी तरह हिन्दू और मुसलमान मौलवियों के हाथ हमारी बोली में फ़ारसी अरबी के लफ़्ज़ ठूँसे गए हैं। आस की जगह उम्मीद, ओस की जगह शबनम, पड़ौस की जगह हमसायगी सैंकड़ों लफ़्ज़ों की फ़ज़ूल भरमार। लेकिन यह सब थोड़े दिनों का मामला है। ज़बानें सदा सुधरती रहती हैं। हमारी भी सुधरेगी यानी आसान होगी। इन पंडितों और मौलवियों का दोष नहीं। सब ज़बानों के साथ ऐसा ही होता रहा है और होता रहेगा। ज़बानों का यह अटल क़ानून है कि जब कोई ज़बान इलमी सूरत अख्तियार करने लगती है तो उस की शकल शुरू में तो सादा होती है लेकिन जहां उस ने ज़रा संभाला लिया तो जो उस देस में पहले इल्मी या अदबी ज़बान थी वह उस पर सवार हो जाती है और उस की डिक्शनरी ही नहीं उस की ग्रामर और बनावट को बदलने की कोशिश करती है और अगर इस नई ज़बान में लिखने वाले की यह नई ज़बान मातृ भाषा नहीं होती तो उसके लेख में वह पुरानी अदबी ज़बान ख़ूब ज़ोर करती है। अपने ही देस में देखिये एक पंजाबी लेखक उरदू में ज़्यादा फ़ारसी और हिन्दी में ज़्यादा संस्कृत के लफ़्ज़ बरतेगा बनिस्बत एक दिल्ली वाले के। यही वजह है कि बनारस के लिखने वालों की हिन्दी इतनी हिन्दी नहीं जितनी संस्कृत होती है। योरपी ज़बानों पर इसी तरह शुरू में लातीनी ने ख़ूब अपना सिक्का जमाया था। आहिस्ते आहिस्ते जितने फ़ज़ूल लातीनी लफ़्ज़ उन में घुस गए थे आप ही आप निकल गए। ईरान में जब अरबों की फ़तह हुई तो वहां की अदबी ज़बान भी अरबी हो गई। दसवीं सदी में जब फ़ारसी में अदब शुरू हुआ तो पहले पहल (जैसे फ़िरदौसी के शाहनामे में) अरबी लफ़्ज़ बहुत कम इस्तेमाल किये गए हैं। इस अदब ने तरक़्क़ी की तो इस में अरबी लफ़्ज़ ही नहीं अरबी तरकीबें भी ख़ूब बरती गईं। आज कल की फ़ारसी में बहुत कम अरबी लफ़्ज़ बरते जाते हैं। तुरकी में भी यही हुआ। अपने ही देस में नज़ीर और ग़ालिब की शायरी में और कबीर और हरिशचंद्र की कविता में फ़रक़ देख लीजिये।

उरदू और हिन्दी

अभी तक हमारी ज़बान पूरी संभली नहीं। इस पर एक और ज़ोरदार हमला होने वाला है। आज कल हमारी इलमी ज़बान अंगरेजी है। बोल चाल में तो बहुत से अंगरेज़ी लफ़्ज़ आ गए हैं। अंगरेज़ी पढ़े हुओं को कभी आपस में कोई भी देसी बोली बोलते सुनो, चौथाई लफ़्ज़ तो अंगरेज़ी होंगे। एक दिन आने वाला है जब यह साहब भी अपनी ज़बान में लिखना शुरू करेंगे। इस किताब में भी कुछ अंगरेज़ी लफ़्ज़ भरे गए हैं सिर्फ़ इस लिये की मेरे अंगरेज़ी पढ़े भाई भी इसे पढ़ सकें।

उरदू और हिन्दी के निकास और विकास की बाबत लिखने से पहले ज़बानों के फलने और फूलने के कुछ मोटे असूल बयान करना मुनासिब हैं। चूंकि यह असूल योरपी विद्वानों ने योरपी ज़बानों से निकाले हैं इस लिये योरपी ज़बानों की कहानी थोड़ी लिखता हूं जिस से उन असूलों की बुनियाद समझ में आजाए।

लातीनी ने मुद्दत तक योरप में राज किया रोमन राज के बूते पर। रोमन राज के बाद यह बहुत दिनों तक जी न सकी बावजूद ईसाई धर्म की मदद के। लातीनी के बाद जिस ज़बान ने पहले पहल योरप में अदबी सूरत अख़्तियार की वह स्पेनिश थी। आठवीं सदी के शुरू में जब मुसलमानों ने वहाँ फ़तह हासिल की, स्पेन में कम से कम तीन बोलियां बोली जाती थीं। चूंकि उत्तरी हिस्से के बाशिन्दों की कोशिश से मुसलमान स्पेन से आहिस्ते आहिस्ते निकाले गए इसलिये उत्तरी हिस्से की ज़बान दक्खिन की तरफ़ फैलने लगी और अगरचे इस ने और बोलियों को बिलकुल मिटाया नहीं लेकिन जब तेरहवीं सदी में इस में ऊँचे दरजे की कविताएँ लिखी गईं तो सारे स्पेन में इस का सिक्का जम गया। यानी मौजूदा स्पैनिश के फैलने की वजह दो हैं, एक पोलिटिकल और दूसरी कविता।

परी जिसे अंगरेज़ी में पेरिस कहते हैं मुद्दत से फ़्रान्स की राजधानी चली आती है। परी में दरबार होने की वजह से और इसलिये मंडी

होने की वजह से परी की ज़बान सारे फ़्रान्स की ही नहीं बल्कि पास पास के देसों की भी आम ज़बान बन गई। इंगलैंड में भी यही हुआ। लन्दन सदियों से राजधानी है इसलिये वहां की बोली तमाम मुल्क की बोली हो गई।

जरमन की कहानी निराली है। बरलिन को राजधानी बने बहुत अरसा नहीं हुआ और न जरमन के और शहरों से बरलिन में कोई ख़ास ख़ूबी है। लूथर एक मज़हबी रिफ़ारमर था। ज्यों ज्यों उस का मत फैलता गया उस की ज़बान भी साथ देती रही और सारी जरमनी में ही नहीं आस पास के कुछ देसों में भी फैल गई। बड़ी वजह इस के फैलने की यह थी कि बाइबल का इस ज़बान में अच्छा और आसान तरजुमा किया गया। सारी पूजा पाठ अब इस में होने लगी।

रूसी की कहानी अजब है। शुरू में मुद्दत तक किताबी ज़बान सलेवानिक रही। वजह यह थी कि वहां बाइबल का तरजुमा पहले सलेवानिक में हुआ था। वहां के ब्राह्मणों ने इसे बहुत दिनों तक क़ायम रखा। लेकिन गो किताबें इस में लिखी जाती रहीं आम आदमी अपनी अपनी लोकल बोली बोलते रहे। रूस की राजधानी मास्को हुआ करती थी। पीटर बड़े के दिनों में इस शाही शहर की बोली ने अपना सिक्का जमा लिया लेकिन अब भी इस में बाइबल की वजह से सलेवानिक की काफ़ी चाशनी है। रूसी ब्राह्मणों ने इस सलेवानिक के लिये बहुतेरे हाथ पाँव मारे लेकिन जुग़राफ़िये के सामने उन की कुछ न चली। अगर दिल्ली हमारी राजधानी रही तो दिल्ली की बोली को राज करने का काफ़ी मौक़ा है।

योरप की ज़बानों में से इतलावी एक ऐसी ज़बान है जो राजधानी से नहीं निकली बल्कि फ़्लोरेन्स की बोली थी। इस की बड़ी वजह तो यह है कि चौदहवीं सदी में तीन चोटी के शायर दाँते (Dante),

पेटरार्क (Petrarch) और बोकैशियो (Bocacio) फ़्लोरेन्स में पैदा हुए और उन के मुक़ाबले में कोई सिर न उठा सका। दूसरी वजह यह बताई जाती है कि इटली की और बोलियों के मुक़ाबले में फ़्लोरेन्स की बोली लातीनी से ज़्यादा मिलती जुलती थी।

इस सरसरी नज़र से हमें एक सबक़ यह मिलता है कि अकसर वही ज़बान मुल्क में आम होती है जो राजधानी की हो। कहीं कहीं लेकिन बहुत कम यह भी होता है कि ऐसे शहर की बोली आम हो जाती है जहाँ कोई ख़ास महाकवि या बड़ा मज़हबी रिफ़ारमर पैदा हुआ हो। हिन्दुस्तान की ज़बानों से भी यही सबक़ मिलता है। पुराने ज़माने में बुद्ध की वजह से मागधी ने पांव फैलाये। तुलसी की वजह से अवधी ने कुछ दिनों सिर उठाया। बंगाल में कम से कम तीन बोलियाँ बोली जाती थीं। राजधानी कलकत्ते में थी इसलिये वहाँ की बोली तमाम बंगाल में आम हुई। पंजाब में चार पांच क़िसम की बोलियाँ थीं लेकिन लाहौर राजधानी था इसलिये जितनी किताबें पंजाबी में छपती हैं वह लाहौरी पंजाबी में छपती हैं। शिवाजी के बाद उस के वज़ीर ने पूना को राजधानी बनाया इसलिये पूना की मरहटी सारे मरहटी देस में आम हुई। चूंकि पूना और कलकत्ते दोनों शहरों में संस्कृत के कालेज भी राजधानी के साथ ही साथ खोले गए इसलिये इन दोनों ज़बानों में संस्कृत ने ज़्यादा ज़ोर किया।

दूसरा सबक़ हमें यह मिलता है कि जिस किसी ज़बान में अंजील (बाइबिल) का ऐसा तरजुमा किया गया हो जो आसान हो और जो पूजा पाठ में बरता जा सके तो उस तरजुमे की ज़बान का उस मुल्क की ज़बान पर बड़ा असर पड़ता है। क़ुरान के उरदू में तीन चार तरजुमे हुए लेकिन उन की ज़बान एक सी नहीं। अभी तक यहाँ के मुसलमानों की समझ में नहीं आया कि नमाज़ का सवाब और असर दुगना हो जाता है अगर अपनी ज़बान में पढ़ी जाए। वेद प्रचार पर

लाखों रूपये खर्च हो रहे हैं और बड़ी बड़ी टीकाएं लिखी जा रही हैं जिन्हें संस्कृतदाँ ही पढ़ सकते हैं। ऐसा कोई तरजुमा नहीं किया गया जो मेरे जैसा साधारन आदमी समझ सके। गीता के तरजुमे और टीकाएं तो बहुत हैं लेकिन साफ़ सुथरा कोई नहीं। अभी तक संध्या और गीता का पाठ संस्कृत में ही करना पुन्य समझा जाता है। क्यों न हो हिन्दू और मुसलमान ब्राह्मणों के पेट का भी सवाल है। अगर हम आप समझ सकें तो इन्हें कौन पूछेगा? इस पेट की आग के लिये ही आजकल के ब्राह्मणों (जन्म के और कर्म के दोनों) की कोशिश है कि राष्ट्र भाशा संस्कृत हो, नहीं तो मुशकिल संस्कृती हिन्दी हो ताकि वह और उन की सन्तान भोले भाले किसानों और मज़दूरों को मन्दिरों में ही नहीं बल्कि कचहरियां, दफ़्तरों, बनिज ब्योपार और हर एक पेशे में लूट सकें। यह देस सेवा और साहित्य सेवा क्या सुन्दर जाल हैं!

दिल्ली सदियों तक शाही शहर रहा। अब फिर राजधानी है। पहले दूर दूर से यहाँ आदमी नौकरी के लिये आते थे। यहाँ के आदमी ही और सूबों के गवरनर और अफ़सर बनाए जाते थे। सब से ज़्यादा मेल जोल बढ़ाने वाली ताक़त होती है आपस में लेन देन ब्योपार। पहले ज़माने में तिजारत बनजारों के हाथ में थी। सब से बड़ी मंडी दिल्ली थी। दूर दूर से बनजारे यहाँ आते थे और दूर दूर के सूबों में यहाँ से जाते थे। क़ुदरती तौर पर यहाँ की बोली के वह लफ़्ज़ जिन का ब्योपार और मामूली बोल चाल से वास्ता था वह और सूबों में चाहे आम न हुए हों लेकिन समझे ज़रूर जाने लगे। ऐसे लफ़्ज़ों की गिनती तीन चार सौ से ज़्यादा न सही और यह भी मान लीजिये कि उस में फ़ारसी के लफ़्ज़ थोड़े ही थे लेकिन सोचिये, तीन चार सौ की वोकैबुलरी थोड़ी होती है? आदमी इस में तो सारा काम चला सकता है। इस तरह पैदा हुई वह ज़बान जिस का नाम, जो चाहे रख लो, हिन्दुस्तानी, हिन्दी

या उरदू। मुमकिन है इस ज़बान को फैलाने में लशकर का भी कुछ हाथ हो लेकिन ज़्यादातर यह काम बनजारों ही ने किया।

मुग़लिया ज़माने में दिल्ली की दरबारी और अदबी ज़बान फ़ारसी थी। जब दिल्ली की देसी बोली ने अदबी सूरत अख़्तियार करनी चाही तो लाज़मी तौर पर कुछ फ़ारसी लफ़्ज़ अदबी शकल देने के लिये इस में लाने पड़े। संस्कृत से तो आ नहीं सकते थे क्योंकि उस के बनाने वाले संस्कृत जानते न थे। थोड़े से फ़ारसी लफ़्ज़ों के बग़ैर तो गुज़ारा ही न था मगर बक़ौल प्रोफ़ेसर आज़ाद के बहुतों ने उरदू को तरक़्क़ी दी मगर अक्सर उन में से ऐसे हैं जो जंगल को साफ़ करने उठे थे मगर दरिया का दहाना उस में ला डाला यानी ज़बान की सफ़ाई की जगह लुग़ात (कोश) की बौछार करदी। "फ़ारसी इस्तआरे (अलंकार) और तशबीह (उपमा) का रंग अगर इस क़दर आता जितना चहरे पर उबटने का रंग या आँखों में सुरमा तो खुशनुमाई और बीनाई (नज़र) दोनों को मुफ़ीद था। मगर अफ़सोस इस ने हमारी ज़बान को तोहमात (अन्धविश्वास) का स्वाँग बना दिया।" "उरदू के ख़यालात ऐसे पेचीदा हो गए कि सिवाय उनके जिनके कानों में बचपन से ही पड़ते चले आते हैं औरों के लिये इतने मुशकिल हो गए हैं कि वह सुन कर मुंह देखते रह जाते हैं।" "उरदू शायरी एक अजब गोरखधंदा हो गया है। जवाब उन का यह है कोई समझे तो समझे, जो न समझे वह अपनी जहालत के हवाले!" सोचो जब उस्ताद यों कहे तो उस ज़बान की बाबत यह दावा करना कि यह हिन्दुस्तान की आम ज़बान है हटधरमी की हद है। मैं जानता हूं कि अब इसे सलीस बनाने की कोई कोई कोशिश करता है लेकिन जो इसे मुशकिल बना रहे हैं उन की गिनती अब भी काफ़ी है। अब जंगल ही नहीं काटना, वह तो बहुत कट चुका है दरिया का रुख़ भी बदलना है, एक दरिया का नहीं तीन दरियाओं का। लेकिन इस ज़मीन को हरा भरा करने के लिये नहरें तीनों दरियाओं

से काट कर लानी पड़ेंगी। बल्कि यों कहना शायद ज़्यादा ठीक हो कि इन दरियाओं का पानी अपने ज़ोर से आप ही घुस आयेगा। ज़माना सब कुछ करेगा लेकिन फिर यह न उरदू और न यह हिन्दी रहेगी।

यूपी क्या छोटा सुन्दर नाम है जिसे बिगाड़ कर उत्तर प्रदेश कहते हैं। इस में अब भी चार पांच बोलियाँ बोली जाती हैं। इन में से दो सतरवीं सदी में ऐसी निखरीं और उन्होंने वह ज़ोर दिखाया कि उन का मुक़ाबला आज कल की कोई हिन्दुस्तानी बोली सिवाय बंगाली के नहीं कर सकती। एक तो अवधी जिस में तुलसीदास ने रामायन लिखी और दूसरी ब्रज भाषा जिस में किशन कन्हैया की लीलाओं का रस निचोड़ कर भरा गया। तुलसी की रामायन और ब्रजभाषा के दोहे और चौपाइयां गांव गांव अभी तक बहुतों को ज़बानी याद हैं। तुलसी की रामायन यूपी में ही नहीं बिहार, राजपूताना, पंजाब में बड़े चाव से पढ़ी और सुनी जाती है। गो अवध में अवधी और ब्रज में ब्रज भाषा अब भी बोली जाती हैं लेकिन अब उन में वह मिठास नहीं। उन की मिठास का गुड़ था उनकी उठती जवानी, उन के एक सलेबली लफ़्ज़ और वह भी स्वरों से लदे हुए और उन में शक्ति थी कि वह संस्कृत और फ़ारसी के लफ़्ज़ों को तोड़ मरोड़ कर लचका और अपना सकें। काश उरदू और हिन्दी के ढिन्ढोरची इस गुड़ को समझ सकें। लेकिन अभी इस की उम्मीद नहीं।

बनारस और गोरखपुर की बोली भोजपुरी एक क़िसम की बिहारी है। इस ने कभी अदबी सूरत नहीं ली। शायद यह ही वजह है कि वहाँ के लोगों को हमारी बोली से हसद है और वह इसे बिगाड़ना चाहते हैं। मेरठ बिजनौर की बोली को हिन्दी वाले खड़ी बोली कहते हैं और इसे अपनी हिन्दी की बुनियाद बताते हैं। कहने को तो यों भी कहते हैं कि इस में हम ने संस्कृत की सिर्फ़ पुट दी है लेकिन असल में संस्कृत का सारा दरिया इस में छोड़ दिया है। जैसे शायद ही कोई फ़ारसी का लफ़्ज़

हो जो उरदू में न इस्तेमाल किया गया हो इसी तरह शायद ही कोई संस्कृत का शब्द हो जो हिन्दी में न बरता जाता हो और ख़ूबी यह कि उसी तत्सम रूप में यानी संस्कृत की हूबहू शकल में, जब कि आम बोली में और ख़ास कर उन की मां-बोली में तद्भव यानी बदली हुई शकल या अध-तत्सम यानी आधी बदली हुई शकल के लफ़्ज़ सब समझते हैं। अपनी मामूली बोली तो गंवार भी जानता है, संस्कृत सब नहीं जानते। पर आजकल लिखने वाले की लियाक़त तो इसी में है कि वह संस्कृत लिखे। मातृ भाषा वह बोली नहीं जो हमारी माएँ बोलती हैं बल्कि वह जो पंडित कहे कि होनी चाहिये! असल में इन पंडितों का भी क़सूर नहीं। किसी पंडित पोथी में यह नहीं लिखा गया कि हर भाषा का यह सुभाव होता है कि उस के शब्द आहिस्ते आहिस्ते सहल सुरीले और छोटे होते रहते हैं। भाषा मैं उसे कहता हूं जो आम लोगों की बोली हो और जिसे बाज़ लोग गंवारू और इसलिये हेच समझते हैं और जिसे इसीलिये मैं ऊंची पदवी देता हूं। जब कोई भाषा अदबी सूरत अख़्तियार करती है तो उस के लफ़्ज़ों की आवाज़ और हिज्जे पथरा जाते हैं; यानी उन की शकल कुछ क़ायम हो जाती है। अगर बिलकुल क़ायम हो जाए यानी उनकी शकल में तबदीली हो ही न सके तो वह भाषा नहीं रहती, मुरदा ज़बान हो जाती है।

उरदू हिन्दी की कहानियां अमीर ख़ुसरो से शुरू होती हैं लेकिन यह कहना शायद ग़लत न हो कि इन दोनों की नसर (गद्य) सन १८०० के बाद कलकत्ते में अंगरेज़ी डाक्टरों की मदद से पैदा होई। उरदू नसर की बाबत तो कुछ शक हो सकता है लेकिन इस में शक नहीं कि हिन्दी गद्य का जनम अंगरेज़ों की मेहरबानी से हुआ। उन्नीसवीं सदी के शुरु में अंगरेज़ों को अपने अंगरेज़ी अफ़सरों को हिन्दुस्तानी सिखाने की ज़रूरत पड़ी। इस लिये उन्होंने कुछ किताबें लिखवाईं। उरदू में तोता कहानी, हैदरी, नूर बे नज़ीर। इन सब किताबों की ज़बान बहुत कुछ एक सी है ग्रामर का तो

रत्ती भर फ़रक़ नहीं। हिन्दी में चार किताबें लिखवाईं। एक प्रेम सागर जो एक गुजराती ब्राह्मण लल्लूमल आगरा निवासी ने लिखी। यह भागवत के दसवें हिस्से की कथा है जो पहले ब्रजभाषा में नज़्म (पद्य में थी। नतीजा यह कि इस की ज़बान आगरे की बोली, गुजराती और ब्रज भाषा का अजब मेल है। इसे उसने खड़ी बोली कहा है। इस खड़ी बोली की तरह यह लफ़्ज़ खड़ी बोली भी शायद उस की गढंत है। यह साफ़ है कि यह खड़ी बोली कहीं नहीं बोली गई। सदल मिश्र ने जो किताब लिखी वह बिहारी और ब्रज भाषा का मेल है। इनशाअल्ला ने रानी केतकी देवनागरी हरफ़ों और मामूली बोल चाल की हिन्दोस्तानी में लिखी जिसमें फ़ारसी और संस्कृत दोनों के लफ़्ज़ों से परहेज किया गया। ज़बान साफ़ और सुथरी नुक़्स है तो सिर्फ़ तुकबंदी का सुखलाल का सुख सागर गीता का तरजुमा है। ज़बान पूरबी जिसमें संस्कृत के लफ़्ज़ भर दिये गये हैं। अफ़सोस तो यह है कि इन चारों किताबों की ज़बान ही अलग अलग नहीं ग्रामर भी अलग है।

१८३२ में फ़ारसी की जगह अदालत की ज़बान उरदू कर दी गई। १८३७ में दिल्ली में लीथो का छापाख़ाना खुला जिस से उरदू की ख़ूब तरक़्क़ी हुई। क़ुरान का तरजुमा और बहुत सी इसलामी धर्म की किताबें छपीं। हिन्दू धर्म पर भी जो किताबें छपीं उरदू हरफ़ों में थीं। उन की ज़बान में फ़ारसी के लफ़्ज़ कुछ कम होते थे और कोई कोई संस्कृत का शब्द भी आ जाता था। ईसाई धर्म का मुक़ाबला करने के लिये हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों को अपना अपना धर्म सुधारना पड़ा। वहाबियों के अलावा सर सैयद अहमद ने भी कुछ रिफ़ार्म की कोशिश की। हिन्दुओं में आर्य समाज पैदा हुई। किसी धर्म को सुधारना बहुत मुशकिल काम है। एक ही तरीक़ा है। सुधार के लिये जोश की ज़रूरत है और जोश दूसरे धर्मों को बुरा और अपने को अच्छा बता कर आसानी से पैदा किया जा सकता है। उस वक़्त यह ख़याल नहीं किया जाता कि इस से देस में बैर

बढ़ना है। आर्य समाज के पैदा होने के बाद पिछली सदी में जो किताबें उरदू और हिन्दी में छपी ज़्यादातर इसी क़िसम की थीं। उन्हों ने ही हिन्दू मुसलमानों में खिंचावट पैदा की जिस का नतीजा बढ़ते बढ़ते पाकिस्तान की सूरत में दिखाई दिया।

आर्य समाज के बानी स्वामी दयानन्द एक गुजराती ब्राह्मण थे। बनारस में जा कर उन्होंने संस्कृत पढ़ी। मुमकिन है गुजराती और संस्कृत के अलावा बनारस रह कर वह कुछ बिहारी या भोजपुरी भी बोलना सीख गए हों। यह साफ़ है उन्हें दिल्ली या मेरठ की बोली नहीं आती थी। उन्हों ने जो सत्यार्थ प्रकाश लिखा वह आर्य समाजियों के लिये ही नहीं बनारस के हिन्दुओं के लिये भी नमूना बन गया। यह तो साफ़ है कि यह ज़बान संस्कृत की तरह बनाई गई है। कहीं बोली नहीं जाती। यह हुई धर्मी ज़बान। इस की बिना पर भारतेन्दु हरिशचन्द्र ने साहित्य की भाषा बनाई और यह कहा कि यह मेरठ की बोली है। मेरठ दिल्ली के पास है। क़ुदरती तौर पर मेरठ और दिल्ली की बोली में कोई फ़रक़ नहीं। मैं दोनों शहरों में रहा हूँ और इस बात की जांच के लिये कान लगा कर हर एक तरह के लोगों को बोलते सुना है। मुझे तो दिल्ली और मेरठ की बोली में कोई फ़रक़ नहीं मालूम हुआ।

दीन धर्म के मामले में पागलपन की कोई हद नहीं होती। आज कल ही देख लीजिये। दीन धर्म के नाम पर एक दूसरे की जान लेना पुन्य है। उन्नीसवीं सदी में एक अजब पागलपन की लहर उठी थी। हिन्दू की धर्मी ज़बान संस्कृत और मुसलमानों की अरबी। अपने अपने धर्म प्रचार का सहल नुसख़ा यह कि इन ज़बानों को यहाँ की बोली बना दो। यहाँ की बोलियों में इन के सारे लफ़्ज़ भर दो। यह ख़ुदा की ज़बानें हैं। अपने आप घर कर लेंगी। अभी तक यह पागलपन गया नहीं है। कटक में सारे हिन्द की यूनीवरसिटियों की मीटिंग में गवरनर काटजू ने यह

लेक्चर दिया कि चूंकि संस्कृत हिन्दुस्तान की बोलियों की माँ है इसलिये हिन्द की राष्ट्र भाषा (Lingua franca) संस्कृत बनाई जानी चाहिये।

दो ज़बानों की आपस में तकरार बहुत से देसों में हुई। हमारा देस कोई निराला नहीं है। यह तो मैं पहले लिख चुका हूँ कि अकसर जीत राजधानी की बोली की होती है, लिखी बोली की नहीं, बोलचाल की बोली की। लिखी बोली की जीत तो बहुत कम और सिर्फ़ वहाँ होती है जहाँ एक या ज़्यादा चोटी के कवि पैदा हों। ऐसे कवियों के लिये तो अभी ज़मीन तैयार नहीं हुई; ज़बान की ही नहीं समाजिक और आर्थिक भी नहीं। इस का इस से बहतर क्या सबूत हो सकता है कि हमारे क़ौमी राग और क़ौमी गीत दोनों बँगला भाषा में हैं।

ज़बानों की तकरार भी तरह तरह की होती हैं। जहाँ दोनों की जड़ एक ही हो और उन की ग्रामर भी एक, जैसी नारवे में डैनिश और नारवीजियन की थी और जैसी हमारी है। नारवे में तो दोनों एक दूसरे से ले दे कर मिल गईं। मुमकिन है यहाँ भी वही हो। मगर यहाँ पर धर्म का एक और पुछल्ला है। दिल्ली में तो मुद्दत से उरदू राज करती आई है। यह उरदू हिन्दी का झगड़ा यूपी से उठा क्योंकि यहाँ लखनऊ और आगरे में मुद्दत से उरदू ने नवाबी की है। और पूरबी यूपी में बनारस सदा ब्राह्मणों का गढ़ रहा है। पाकिस्तान वालों ने उरदू अपनाई तो हिन्द वाले हिन्दी कैसे न अपनाते। इस का कोई जवाब नहीं और हमारी एसेम्बली के चौधरियों ने यह ही फ़ैसला किया। यह जीत हार का खेल कोई नया नहीं, सदा से चला आया है। जब एक क़ौम ने दूसरी क़ौम पर जीत पाई तो जीतने वालों की हमेशा यह कोशिश रही है कि हारे हुओं की बोली को कुचल दें ताकि वह फिर सँभाल न सकें और अगर जीतने वालों की गिनती ज़्यादा है तो वह कामयाब भी हो जाते हैं। पर यह शर्त ज़रूरी है कि उन में यह भी ताक़त हो कि हारे हुओं को अपने में मिला सकें। यहाँ हिन्दू हिन्दू नहीं

रहता अगर वह मुसलमान को अपनाले। और फिर हम उरदू ज़बान को कुचल नहीं सकते जब एक पास के देस की वह क़ौमी ज़बान हो। यह मुमकिन है कि पाकिस्तान की ज़बान एक दिन उरदू न रहे लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कि बहुत से हिन्दुओं के घरों में उरदू ही बोली जाती है और उरदू को बनाने में हिन्दुओं ने बहुत मदद दी है।

कहीं तकरार बिलकुल दो अलग क़िस्म की बोलियों की होती है जैसे कैनेडा में फ़्राँसीसी और अंगरेज़ी की या बेलजियम में फ़्राँसीसी और फ़िलमिश की। ऐसी हालत में लोग दोनों ज़बानें बोलना सीख जाते हैं।

यू॰पी॰ के शिक्षा मंत्री डाक्टर सम्पूर्णानन्द ने लिखा है कि उरदू वाले जो हिन्दी लफ़्ज़ भी इस्तेमाल करते हैं उन्हें जान कर बिगाड़ते हैं ताकि हिन्दी की हेटी हो। और एक मिसाल यह देते हैं कि उरदू वाले हमेशा दश को दस कहते हैं। 'श'।की आवाज़ को हमारी उत्तर की बोलियों में से निकले दो हज़ार बरस से ज़्यादा हो चुके हैं और बावजूद ब्रह्मणों की कोशिश के यह हमारी बोली में हज़ार बरस तक न आई। और जब आई तो मुसलमानों की मेहरबानी से। ऐसा मालूम होता है कि उत्तरी हिन्दवासियों के गले की बनावट कुछ ऐसी है कि उन के लिये 'श' से 'स' कहना ज़्यादा आसान है और बंगालियों और गुजरातियों के लिये 'श' कहना ज़्यादा आसान है। जैसे पानी हमेशा नीचे की तरफ़ बहता है वैसे ही बोली सदा सरलता की तरफ़ बहती हैं। जैसे गंगा को काशी से वापिस हिमालय नहीं ले जा सकते, इसी तरह सरल बोली को कठिन नहीं बना सकते। यह मुमकिन है कि इंजन के ज़ोर से नालियों में बंद करके पानी को ऊँचाई पर लेजाया जाय लेकिन जहाँ आज़ादी मिली वह नीचे को ही बहेगा। इसी तरह मुमकिन है कि बोली को शिक्षा विभाग के ज़ोर से स्कूलों की नालियों में से गुज़ार कर थोड़े दिनों के लिये इने गिने आदमियों की बोली मुशकिल बना ली जाय लेकिन जहाँ तालीम फैली बोली आसान हो जाएगी।

भाषा

हमारे यहाँ यह ग़लत ख़याल आम मालूम होता है कि ज़बान बाँधी जा सकती है। मुर्दा ज़बान को तो मौत सुकेड़ कर बाँध देती है। जो बनावटी ज़बान हो वह बनती ही है बँध कर और यही वजह है कि वह कभी आम नहीं होती। जो भाषा बोली जाती है उसे कौन बाँध सकता है। इस में शक नहीं कि जब वह साहित्यी सूरत लेती है तो वह कुछ बँधी सी मालूम होती है। एक विद्वान ने अदबी ज़बान को उस बरफ़ से उपमा दी है जो सर्द मुल्कों में दरियाओं के ऊपर जम जाती है। मालूम होता है कि दरिया जम गया लेकिन होता यह है कि दरिया बरफ़ के नीचे बहता रहता है। जहाँ धूप की गरमी पड़ी, बरफ़ पिघली और दरिया ज़ोरों से बहने लगा। इसी तरह अदबी ज़बान चाहे ऊपर से बँधी दिखाई दे, नीचे से चलती रहती है और जहाँ जीवन की गरमी लगी ऊपर के बंद भी खुल जाते हैं।

ज़बान का एक मोटा असूल यह है कि जो ज़बान बोली जाती है उस के लफ़्ज़ आप ही आप छोटे और आसान होते रहते हैं। जो लोग ज़बान में मुश्किल लफ़्ज़ ज़बरदस्ती लाने की कोशिश करते हैं वह अपने देश का भला नहीं कर रहे हैं।

बुनियादी ज़बान

इस सदी में इंगलैंड में एक नई चीज़ पैदा की गई है जिसे वह बुनियादी अंगरेज़ी (Basic English) कहते हैं। कोशिश यह थी कि अंगरेज़ी जितनी आसान बनाई जा सके बनाएं ताकि जिनकी मां-बोली अंगरेज़ नहीं वह भी आसानी से उसे लिख पढ़ और बोल सकें और अंगरेज़ भी अपने सारे भावों को थोड़े से थोड़े लफ़्ज़ों में निभा सकें। आख़िर वह इस नतीजे पर पहुंचे कि सिर्फ़ ८५० लफ़्ज़ हैं जिनके बिना गुज़ारा नहीं। अगर किसी को यह ८५० लफ़्ज़ आते हों तो वह अपना सारा काम काज लेन देन ही नहीं, सोच विचार भी अंगरेज़ी में अच्छी तरह कर सकता है। इन ८५० लफ़्ज़ों में साइंसी लफ़्ज़ शामिल नहीं यानी वह लफ़्ज़ जो किसी इल्म, पेशे या हुनर में बरते जाते हों। साहित्य के लिये जितने लफ़्ज़ ज़रूरी हैं वह सब इन ८५० में आ गए। बहुत सी अदबी किताबें ऐसी छापी गई जिनमें कोई ऐसा लफ़्ज़ नहीं बरता गया जो इन ८५० से बाहर हो। इस में शक नहीं कि इस बुनियादी अंगरेज़ी में अदबी अंगरेज़ी का लुत्फ़ नहीं। लेकिन इसमें भी शक नहीं कि विद्या प्रचार के लिहाज़ से जितना ज़बान को आसान बनाया जाए उतना ही उस मुल्क में तालीम, ब्योपार और माली हालत बढ़ती और सुधरती है। आप ही सोचिये मुल्क के लिये क्या ज़्यादा मुफ़ीद है, सारे देश की खुशहाली या थोड़े आदमियों की ज़बान का चस्का।

बुनियादी अंगरेज़ी ज़्यादातर इंगलैंड की तिजारत को तरक्क़ी देने के लिये बनाई गई थी। यह ही वजह है कि वहां की सरकार ने इसे बहुत भारी क़ीमत देकर ख़रीद लिया है। इस के बनाने वालों का तो यह भी

ख़याल था कि बुनियादी अंगरेज़ी सारी दुनिया की आम बोली बनाई जा सकती है। लेकिन अंगरेज़ी की ग्रामर और हिज्जे दोनों सीधे नहीं। अगर कभी कोई ज़िन्दा ज़बान दुनिया की आम ज़बान बनी तो बुनियादी अंगरेज़ी नहीं बल्कि वह टूटी फूटी अंगरेज़ी होगी जिसे पिजन अंगरेज़ी कहते हैं जिस में न ग्रामर का ख़्याल और न हिज्जों का। जब तक दुनिया में क़ौमियत यानी अलग अलग राष्ट्रों का भूत सिर पर सवार है कोई जीती ज़बान दुनिया की आम ज़बान नहीं बन सकती। यह भी है कि ज़िन्दा ज़बान के माने ही यह हैं कि वह बदलती रहती है। जिस ज़बान में मुक़ामी तबदीली हो सके वह कैसे दुनिया भर की आम ज़बान बन सकती है। इसलिये ख़याल किया जाता है कि दुनिया की आम बोली कोई आसान बनावटी बोली ही हो सकती है।

सौ बरस पहले दिल्ली से मेरठ जाने में दो दिन लगते थे। अब मोटर में एक घन्टा। हवाई जहाज़ से लाहौर एक घन्टे में पहुँचते हैं, दो रोज़ में इंगलैन्ड, एक अठवारे में सारी दुनिया की सैर हो सकती है। एक दिन जल्द आने वाला है जब हवाई जहाज़ की सवारी आम हो जाएगी। यह तो मुमकिन नहीं कोई दुनिया भर की बोलियाँ सीख सके। सैर और व्योपार के लिये एक ऐसी ज़बान का होना ज़रूरी हो गया जो सारी दुनिया वाले बोल और समझ सकें। यह कोई आसान बनावटी ज़बान ही हो सकती है। पिछले पचास साल में कोई नौ ऐसी ज़बानें बनाई गई हैं। जो नई बनी वह पहली से ज़्यादा आसान। बुनियादी अंगरेज़ी सीखने में छै महीने लगते हैं। जो सब से नई बनावटी ज़बान न्यू लैंग है उसे सीखने के लिये तीन महीने काफ़ी हैं। अगर एक ऐसी बोली हर देस में सिखाई जाए तो कितना अच्छा हो और आपस में मेल बढ़े। अफ़सोस यह है कि किसी एक बोली पर सब देसों का सहमत होना कठिन है।

यह बनावटी बोलियां तो बनाई गईं सारी दुनिया के लिये। हमारे देस में आजकल हिन्दी हिन्दुस्तानी को सारे देस की आम बोली बनाने की चरचा हो रही है और मालूम होता है कि यह बन कर ही रहेगी। होना तो यह चाहिये था कि वह कैसे आसान से आसान बनाई जा सकती है। और गो आजकल हवा उलटी चली है आखिर हमें करना यह ही पड़ेगा कि पहले बुनियादी हिन्दुस्तानी बनाएं। अंगरेज़ी में ८५० लफ़्ज़ बुनियादी हैं। हमारी बोली में भी शायद इतने ही होंगे। इन में से तीन चार सौ ऐसे हैं जो मुग़लिया खानदान के ज़माने में दिल्ली से निकले और बंजारों की मेहरबानी से सारे हिन्दुस्तान में अगर बोले नहीं जाते तो समझे ज़रूर जाते हैं। जैसा मैं पहले लिख आया हूं तीन चार सौ लफ़्ज़ थोड़े नहीं होते। जीवन का बहुत सा काम इन से ही चलाया जा सकता है। साहित्य के लिये बहुत से बहुत चार पाँच सौ लफ़्ज़ और चाहियें। इन में दस बीस ऐसे होंगे जो सारी दुनिया में बोले और समझे जाते हैं जैसे पुलिस, इंजन, इंजीनियर, काफ़ी, टमाटर, तम्बाकू वग़ैरा और बीस पच्चीस ऐसे होंगे जो अंगरेज़ी से हमारी बोली में आगए और जिन्होंने देसी लफ़्ज़ों को निकम्मा बना दिया जैसे दियासलाई के लिये माचिस, वक़्त के लिये टेम। बाक़ी चार पाँच सौ लफ़्ज़ों का चुनना आसान काम नहीं। इस के लिये इतनी लियाक़त की ज़रूरत नहीं जितनी खोज की और आम आदमियों के गले की बनावट के सांचे में हर लफ़्ज़ को ढालने और तोलने की। यह काम अच्छी तरह से वही कर सकता है जो दिल्ली या दिल्ली के आस पास का रहने वाला हो, जो जाँच सके कि कौन सा लफ़्ज़ यहाँ ज़्यादा बोला जाता है और कैसे बोला जाता है।

सन १९३७ में श्री नेहरू जी ने बुनियादी हिन्दुस्तानी की ज़रूरत बताई थी। जहाँ तक मुझे पता है अभी तक किसी ने इस तरफ़ ध्यान नहीं दिया। यह एक दिन का काम नहीं। बरसों की लगातार मेहनत का

काम है। हम में से कितने ऐसे हैं जिन्हें देस का प्रेम भी हो और गुज़ारे का फ़िकर न हो। मुमकिन है कि अगली पौद में कोई माई के लाडले ऐसे प्रेमी निकल आएँ जो बुनियादी हिन्दुस्तानी बनाएँ। आजकल की पौद से उम्मीद करना फ़ज़ूल है। उन्हें तो कलस कारनिस और मेहराबों के सपने आते हैं, बुनियाद का ख़याल नहीं।

फ़ारसी और अंगरेज़ी

भाषा विद्या के विद्वानों की यह राय है कि दुनिया में जितनी ज़बानें हुई हैं उन में से सिर्फ़ तीन ज़बानों ने अब तक कमाल हासिल किया है। एक स्पैनिश, दूसरी अंगरेज़ी और तीसरी ईरानी (फ़ारसी)। स्पैनिश तो कभी हिन्दुस्तान में आई ही नहीं, इसलिये उस से हमारा कुछ वास्ता से नहीं रहा। फ़ारसी और अंगरेज़ी यहाँ सिर्फ़ आई ही नहीं, इन दोनों ने यहां मुद्दत तक राज किया है। यह तो सब कोई मानता है कि वही ज़बान अच्छी जो आसान हो। इन तीनों ज़बानों में यह ही खूबी है कि वह और ज़बानों से बहुत ज़्यादा आसान है। ग्रामर आसान, महावरों का भी ज़ोर नहीं, लफ़्ज़ एक सलेबली बहुत और स्वरों से लदे हुए। नतीजा यह कि इन ज़बानों के बोलने और समझने में कोई मुशकिल नहीं। किसी ज़बान की खूबी जाँचने की एक ही कसौटी है कि उस का बोलना और समझना आसान हो। यह ज़रूरी नहीं कि उस का लिखना पढ़ना भी आसान हो। अगर अंगरेज़ी और फ़ारसी का लिखना पढ़ना भी आसान हो जाए तो सोने पर सुहागे का काम दे, लेकिन अब भी इन के कुन्दन होने में तो शक नहीं हो सकता।

ज़रा सोचिये कि ऐसी दो आला ज़बाने हमारे देश में गंगा जमना की तरह बहती हों और हम उनके पानी से अपनी खेती बाड़ी को सींचने और अपनी प्यास बुझाने से परहेज़ करें। यह कौन सी अक़लमन्दी की बात है। इस परहेज़ की दो वजह दी जाती हैं। बड़ी वजह यह कि हम क्यों किसी ग़ैर-ज़बान से ऐसे लफ़्ज चुराएँ या लें जब कि हमारी अपनी बोली में उन का मतलब अदा करने के लिये हमारे पास या तो पहले ही से लफ़्ज़ मौजूद हैं या संस्कृत या अरबी की मदद से

नए लफ़्ज़ गढ़े जा सकते है। जवाब साफ़ है। लफ़्ज़ किसी की मिलकियत नहीं, न किसी आदमी और न किसी देस की। लफ़्ज़ उस का जो उसे बोले। इस लिये चुराने या उधार लेने का तो सवाल पैदा ही नहीं होता। अगर हमारी ज़बान में ज़्यादा आसान लफ़्ज़ मौजूद हैं तो दूसरी ज़बान से कम आसान लफ़्ज़ लेने का सवाल पैदा ही नहीं होना चाहिये। अगर हमारी ज़बान में ऐसे लफ़्ज़ आ गए हैं तो उन का इस्तेमाल छोड़ देना चाहिये क्योंकि यह तो साफ़ है कि एक ही अक्स के लिये एक से ज़्यादा लफ़्ज़ बरतना अपनी ज़बान को मुफ़्त में मुशकिल बनाना है। जैसे हमारा लफ़्ज़ आंख-चश्म, नैत्र या चक्षु से ज़्यादा आसान है। कोई वजह नहीं क्यों कोई आँख के लिये कोई और लफ़्ज़ बरते। मैं जानता हूँ कि यह छोटी सी बात किसी अनपढ़ की समझ में तो आजाएगी पर किसी पढ़े लिखे की समझ में आनी मुशकिल है क्योंकि हमारे स्कूल और कालिजों में पढ़ाया ही उल्टा जाता है। अक्स थोड़े, लफ़्ज़ ज़्यादा। यही वजह है कि हमारे पढ़े हुओं की ज़बान में सैंकड़ों भरती के लफ़्ज़ भरे हुए हैं। इन्हें निकालना ही पड़ेगा।

जो लफ़्ज़ नए बनाए जाते हैं चाहे संस्कृत से या अरबी से वह अकसर अंगरेज़ी और फ़ारसी लफ़्ज़ों से ज़्यादा भारी और मुशकिल होते है। अगर वह ज़्यादा आसान हों तो उस से बेहतर कोई बात नहीं हो सकती। जैसे विधान अंगरेज़ी लफ़्ज़ कानस्टीट्यूशन से बहुत ज़्यादा हलका और इसलिये आसान है। लेकिन हमारे अंगरेज़ी विधान का उस के सरकारी तरजुमे से मुक़ाबला किया जाए तो मालूम होगा कि हिन्दी के टर्म अंगरेज़ी टर्मों से बहुत ज़्यादा भारी ही नहीं कड़वे भी हैं। यह अंगरेज़ी लफ़्ज़ टर्म ही देख लीजिये, फ़ारसी और उरदू में इसे इस्तलाहात कहते हैं, संस्कृत और हिन्दी में परिभाषक। सिवाय हट धरमी के कोई वजह नहीं क्यों टर्म जैसे हीरे की जगह फ़ारसी की ईंट या संस्कृत का पत्थर बरता जाए।

फ़ारसी और अंगरेज़ी

फ़ारसी के बहुत से लफ़्ज़ तो हमारी ज़बान में धींगामुश्ती से लाए गए हैं लेकिन उन में बाज़ ऐसे हैं जो अपनी खूबी की वजह से हमारी बोली के नग बन गए हैं और बने रहेंगे। लफ़्ज़ देसी बिदेसी नहीं होते। अगर वह अच्छा है तो जियेगा, चाहे बिदेसी हो और मरेगा अगर मुशकिल है, चाहे देसी हो। किसी बिदेसी लफ़्ज़ के चालू होने के लिये दो चीज़ें ज़रूरी हैं। पहली तो यह कि वह एक दफ़ा हमारी बोली में किसी तरह आ घुसे। दूसरी यह कि वह आसान हो। यह क़ानून हमारी बोली पर ही नहीं दुनिया भर की बोलियों पर लागू है। जैसे हमारे लफ़्ज़ ऊंठ और हाथी अंगरेज़ी लफ़्ज़ कैमल और एलीफ़ेन्ट से ज़्यादा हलके हैं। चूंकि यह लफ़्ज़ इंगलैन्ड अमरीका में घुसने लगे हैं, एक दिन आसकता है जब इन जानवरों को अंगरेज़ी में ऊंठ और हाथी ही कहा जाएगा। इसी तरह हिन्दुस्तान में जहाँ चले जाओ गांव गांव में लोग समय और वक़्त के बजाय टेम ही पूछेंगे।

फ़ारसी ज़बान मीठी है। कुछ तो इस वजह से कि यह स्वरों से लदी हुई है और हमें इसलिये भी प्यारी मालूम होती है कि इस की बुनावट हमारी बोली की बुनावट से बहुत कुछ मिलती है और कुछ इस वजह से कि इस के बोलने वाले बोलते वक़्त इस में मिठास भरते हैं जैसे हमारे 'अ' की आवाज़ में ज़रा सी गोलाई देकर बंगाली करते हैं। लिखते तो वह बफ़रमा ही हैं लेकिन बोलने में कुछ बोफ़ोरमो हो जाता है या जैसा हमारा जल बंगाली में जोल सा हो जाता है। योरपी विद्वानों की राय में ईरानियों ने फ़ज़ूल अरबी के लफ़्ज़ निकाल कर उन की जगह नये लफ़्ज़ गढ़े हैं और पुराने लफ़्ज़ों को नए मानों में इस्तेमाल करने में कमाल किया है। मुझे अफ़सोस इस बात का है कि मैं हाल में यह उम्मीद भी नहीं कर सकता कि हमारे विद्वान जो नित नये गलाघोट लफ़्ज़ हिन्दी और उरदू में बना रहे हैं वह ईरानी से सबक़ लेकर हमारी ज़बान को आसान बनाएंगे।

अंगरेज़ी के कुछ लफ़्ज़ हमारी बोली में ऐसे मिल जुल गए हैं कि वह निकाले नहीं जा सकते। हमारे अंगरेज़ीदाँ तो आज कल बहुत से अंगरेज़ी लफ़्ज़ हिन्दुस्तानी में बोल लेते हैं जिस के माने यह हुए कि हमारी बोली में अनगिनत अंगरेज़ी लफ़्ज़ आगए हैं। उस में से जो नग हैं और जो हमारी बनावट में आसानी से बुने जा सकते हैं वह बने रहेंगे जैसे टेम, फ़ोन, फ़ुट, फ़िट, शेव वग़ैरा। जो ठग हैं जैसे डारलिंग, फ़ादर, जैन्टलमैन वग़ैरा अपने आप निकल जायेंगे। इस में शक नहीं कि आज कल हमारी इल्मी ज़बान अंगरेज़ी है। जब तक वह हमारी इल्मी ज़बान है आप उस से जितना चाहो परहेज़ कर लो। जिस दिन हिन्दुस्तानी भी इल्मी ज़बान बन जाने का दावा करेगी हमारी इल्मी किताबों में अंगरेज़ी लफ़्ज़ों से परहेज़ करना नामुमकिन हो जाएगा। कुछ दिनों के लिये अंगरेज़ी भी हमारी बोली में उतना ही ज़ोर दिखाएगी जितना उरदू में फ़ारसी और हिन्दी में संस्कृत दिखा रही है।

हमें मुद्दत के बाद आज़ादी मिली है इसलिये अचरज की बात नहीं कि हम आज़ादी के असली गुण से नावाक़िफ़ हैं। जैसे जो क़ैदी जेल से भाग कर निकला हो, उसे फिर पकड़े जाने का डर रहता है और इसलिये वह हर चीज़ जो उस के पास जेल की हो उतार फेंकता है और अगर दूर से भी उसे कोई लाल काली पगड़ी दिखाई दे जाए तो वह उस रास्ते से कतराता है, इसी तरह हम अंगरेज़ी लफ़्ज़ों, लिबास, कुरसी मेज़ ग़रज़ हर अंगरेज़ी चीज़ से परहेज़ करते हैं कि कहीं इन चीज़ों के रखने से हम फिर ग़ुलाम न हो जाएं। इस परहेज़ की जड़ में कहीं कहीं यह ख़याल भी है कि यह चीज़ें हमारी ग़ुलामी की निशानियाँ हैं और इन निशानियों को मिटाकर हम औरों को और शायद अपने आपको भी धोका दे सकें कि हम कभी ग़ुलाम नहीं हुए थे। हिन्दू अपने इतिहास की हमेशा डींग हाँकते हैं और अपनी पिछली करतूतों पर सदा से पोचा फेरते रहे हैं। बड़े से बड़े नेता से लेकर चन्दू चौकीदार तक हमारी पुरानी सभ्यता, संस्कृति, कलचर

के पुल बाँधते रहे हैं। कहाँ तक यह दुरुस्त है इस पर बहस करने की ज़रूरत नहीं। यहाँ इतना कहना काफ़ी होगा कि इसमें काफ़ी शक की गुंजाइश है।

यह तो साफ़ है कि हमें जो आज़ादी मिली है, चोरी से नहीं मिली, खुले बन्दों मिली है। पोलिटिकल आज़ादी तो मिली, दिमाग़ी आज़ादी अभी बाक़ी है। अगर मेरे दिल में चोर है और इस दिल के चोर की वजह से मैं बिदेसी लफ़्ज़ों से जी चुराता हूँ तो मेरी आज़ादी नाम की है। यह आज़ादी नहीं कि मैं संस्कृती पत्थर या अरबी ईंट की जगह फ़ारसी मोती या अंगरेज़ी हीरे को न चुन सकूँ। फ़ारसी और अंगरेज़ी दोनों में बहुत से ऐसे चुस्त लफ़्ज़ हैं जिन्हें अपनाकर हम अपनी ज़बान की शोभा बढ़ा सकते हैं। अगर नहीं बढ़ाते तो इस की एक ही वजह है, हमारे दिल का चोर, जिस को छिपाने के लिये हम उस का नाम देस प्रेम, मातृ भाव कुछ ही रख लें।

यह तो साफ़ है कि हमें पोलिटिकल आज़ादी हासिल करने में अंगरेज़ी ने बहुत काफ़ी मदद दी है। आज़ादी, बराबरी और बिरादरी का ख़याल ही पच्छिम से आया और वह भी बहुत कुछ अंगरेज़ी की मेहरबानी से। आज़ादी तो कुछ मिली लेकिन जहाँ जात पात, छूत छात का राज हो वहाँ बराबरी और बिरादरी कैसे हो सकती है। इस में शक नहीं कि जात पात के बन्धनों से अंगरेज़ी के कारन हमें कुछ थोड़ा सा छुटकारा मिला है। लेकिन वह तो बराए नाम है। ब्राह्मण और उन के चेले अब भी ताक़तवर हैं। ब्राह्मणी राज हिन्दुस्तान में तीन हज़ार से भी ज़्यादा बरसों से बराबर चला आता है। हमारी नस नस में इस की ज़हरीली जड़ फैल चुकी है। आज कल यह फिर ज़ोरों पर है और चूँकि बराबरी और बिरादरी का ख़याल अंगरेज़ी के ज़रिये यहाँ आया इसलिये बड़ी ज़ोरों से कोशिश हो रही है कि अंगरेज़ी को देस निकाला दिया जाए। अंगरेज़ी लफ़्ज़ों को निकालो, उन की जगह भारी भारी पत्थर डालकर ज़बान को इतना मुशकिल बनाओ कि विद्या का

आम प्रचार न हो सके। जितनी शिक्षा आम होगी उतना ही ब्राह्मणी राज का ज़ोर कम होगा।

आज कल अंगरेज़ी हमारी इल्मी ज़बान है। यह तो साफ़ है कि जितनी आसानी से हम किसी इल्म को अपनी ज़बान में सीख सकते हैं और में नहीं। हिन्दुस्तान में बारह तेरह ऐसी ज़बानें हैं जो इल्मी बनना चाहती हैं और जो बन कर रहेंगी। हर एक की लिपि अलग और अगर हर एक अंगरेज़ी इल्मी टर्मों के लिये अपनी अपनी अलग टर्में बनाएँ तो हमारे मुल्क में इल्म की तरक़्क़ी में रुकावट पैदा होती है। इल्मी ज़बानों में अंगरेज़ी सरताज है, यही नहीं कि यह सब से ज़्यादा आदमियों की मा-बोली है। हिन्दुस्तान तो अंगरेज़ों के मातहत रहा है, उस का ज़िकर नहीं, रूस, चीन, जापान और बहुत से देसों में भी इस का पढ़ना ज़रूरी समझा जाता है। जहाँ कभी किसी देस में दुनिया भर की किसी इल्मी सभा की बैठक हो वहाँ लेक्चर अंगरेज़ी में होते हैं। जैसे १९२९ में इंजिनियरिंग काँगरेस का पहला जलसा जो टोकियो (जापान) में हुआ था उस में सारे नौ सौ के नौ सौ लेक्चर अंगरेज़ी में ही दिये गए थे, और एक का भी जापानी या किसी और ज़बान में तरजुमा करने की ज़रूरत नहीं हुई थी। आजकल दुनिया की इल्मी ज़बान अंगरेज़ी है और चाहे हमारी पार्लिमेन्ट कुछ ही फ़ैसला करे हिन्दुस्तान की इल्मी ज़बान इस सदी में तो बदलती नहीं। हमारी तालीमी और साइन्सी कांगरेसों ने यह फ़ैसला तो कर दिया कि हिन्द की ज़बानों में जो इल्मी किताबें लिखी जाएं उन में अंगरेज़ी की ही साइन्सी टर्में बरती जाएं, फ़ारमूलों की बाबत जहाँ तक मुझे इल्म है कोई फ़ैसला नहीं किया गया। उम्मीद है वह भी अंगरेज़ी में रहेंगे क्योंकि सारी दुनिया में वह एक ही शकल के हैं। बहरहाल अंगरेज़ी टर्मों के रखने का नतीजा यह होगा कि हमारी ज़बान में सैंकड़ों नहीं हज़ारों अंगरेज़ी के लम्बे चौड़े लफ़्ज़ आ जाएंगे जिन का हमें अपने गलों से निकालना मुशकिल होगा। अगर हमें वह लफ़्ज़ अंगरेज़ी की तरह ही

बोलने पड़े तो हम उन्हें लिखेंगे कैसे ? क्योंकि हमारी भाषा में तो सिर्फ़ दस स्वर हैं और अगर उन के हिज्जे भी अंगरेज़ी ही रहें तो अपनी बोली की ख़ूबी और सादगी जाती रहेगी।

फ़ारमूलों का मामला बहुत टेढ़ा है। आरगैनिक केमिस्ट्री के फ़ारमूले बहुत लम्बे होते हैं। सुनता हूँ कि ऊँची केमिस्ट्री में लफ़्ज़ों की बहुत ज़रूरत नहीं होती। तालीम फ़ारमूलों में ही दी जा सकती है। मुझे तो रोमन लिपि के सिवा चारा नहीं नज़र आता। CO_2 और H_2O को ही लो। इन्हें 'क ओ$_2$' और 'ह$_2$ ओ' लिखें या 'सी ओ$_2$' और 'एच$_2$ ओ' लिखें। दोनों तरह अजब मुशकिलें पेश आती हैं। अंगरेज़ी में K पोटैशियम की निशानी है, N नाईट्रोजन की और Na सोडयम की। इन्हें अगर के, एन और एन ए लिखा जाए तो एक और दर्दसरी पैदा होती है। हमारी किसी लिपि में कैपिटल हरफ़ हैं ही नहीं। बहुत सी चिनसे ऐसी हैं जिन्हें सारी इल्मी दुनिया दो हरफ़ों से लिखती है, एक कैपिटल और एक छोटा। मेरा ख़याल है कि यह एक ऐसा ज़रूरी सवाल है जिस का फ़ैसला एक ऐसी आल इंडिया कमेटी ही कर सकती है जिस में महकमा तालीम के अफ़सर और साइन्सदाँ दोनों शरीक हों और जिस में लिपि का अहम सवाल पहले हल हो और उस के बाद इल्मी किताबों का तरजुमा किया जाए। तरजुमा करना तो आसान मालूम होता है लेकिन एक अगर ऐसी लिपि है जिस में तालीम ज़्यादा आसान होती है तो उस से मुँह मोड़ना ठीक नहीं मालूम होता।

फ़ारसी और अंगरेज़ी दोनों का ताना बाना बहुत कुछ बराबर है। फ़रक़ सिर्फ़ इतना है कि फ़ारसी की बुनावट हमारी बोली की बुनावट से बहुत कुछ मिलती जुलती है, इसलिये फ़ारसी के अकसर लफ़्ज़ ज्यों के त्यों हमारी बोली में आ सकते हैं। अंगरेज़ी की बुनावट बिलकुल जुदा है इसलिये उस के बहुत ही कम ऐसे लफ़्ज़ हैं जो ज्यों के त्यों हमारी बोली में घुस सकें। लेकिन अंगरेज़ी में एक बड़ा गुन है जो न फ़ारसी में है और न

संस्कृत में। वह है लफ़्ज़ को छोटा करने का, घिसाने का। यों यह गुन थोड़ा बहुत हर बोली में पाया जाता है पर कोई बोली अंगरेज़ी को और ख़ास कर आजकल की अंगरेज़ी को नहीं पहुँचती। संस्कृत में उल्टा दस्तूर है, लफ़्ज़ चाहे जितना लम्बा बना लो, छोटा बिलकुल नहीं कर सकते। रोमन लिपि की बोलियों में तो मुद्दत से लफ़्ज़ों की सन्धि (जोड़) उन के पहले हरफ़ों से की जाती है जैसे यू-पी, यू-एस-ए, ई-आई-आर, पी-एम, बी-सी. ऐसे सैंकड़ों जोड़ हमारी बोली में आरहे हैं और हज़ारों हमारे दफ़्तरों में रोज़ बरते जाते हैं जिन से वक़्त की ही नहीं कागज़ की भी बचत होती है। फ़ारमूलों की बाबत में पहले ही लिख चुका हूँ। शुकर है, हमारी यूनीवरसिटियों को १९५० में कुछ होश आने लगा है। जो वोटों के गाहक हैं उन्हें कैसे होश आ सकता है और अगर आ भी जाए तो उन से यह उम्मीद करना बेकार है कि वह सच के लिये लीडरी पर लात मार देंगे।

संस्कृत

यह तो सब जानते हैं कि संस्कृत एक बनाई हुई बोली है। यह कम सोचते हैं कि यह कब बनी और क्यों बनाई गई। ज़बान बनाने की कोई न कोई वजह ज़रूर होती है। कोई बनाई हुई ज़बान जड़ नहीं पकड़ती जब तक वह ज़रूरत, जिस के लिये वह बनाई गई थी, सदियों तक न ज़ोर करती रहे। दुनिया में हज़ारों लाखों बोलियाँ बनाई गई होंगी और अब भी बनाई जा रही हैं लेकिन सिवा संस्कृत के फली फूली और कोई नहीं। जो और कोई नहीं कर सका वह हम ने कर दिखाया। इस पर हम जितना इतराएं थोड़ा है। लेकिन इस इतराने के यह माने नहीं होने चाहयें कि हम यह पूछने की कोशिश ही न करें कि यह अनहोनी बात क्यों और कैसे हो गई।

बनाई हुई ज़बानें दो क़िसम की होती है। एक तो वह जो इसलिये बनाई जाती हैं कि आम आदमी उसे समझ न सकें या कम से कम आसानी से न समझ सकें। जो इस ग़रज़ से बनाई जाती हैं उन्हें जितना मुशकिल बनाया जा सकता है मुशकिल बनाया जाता है। इस तरह की ज़बानें हर एक सरकार ही नहीं बल्कि बहुत से ब्योपारी भी बनाते हैं। इसे वह अपना कोड कहते हैं। दूसरी क़िसम वह है जो कुछ आदमी इसलिये बनाते हैं कि वह इतनी आसान हो जिसे हर एक आदमी आसानी से सीख सके। पच्छिम में इस ग़रज़ से हाल ही में नौ दस ज़बाने बनाई गई हैं जैसे इसपरैन्टो, न्यू लैंग वग़ैरा। इन के आसान होने पर भी यह ज़बानें कुछ बहुत फैली नहीं।

संस्कृत क्यों बनाई गई और क्यों फली इस के जानने के लिये कुछ उस ज़माने के जुगराफ़ियाई, धार्मिक, समाजिक, आर्थिक और इतिहासिक

हालतों का जानना ज़रूरी है। ख़याल किया जाता है कि आर्य पहले पहल पंद्रहवीं सदी बी० सी० या उस से भी कुछ पहले हिन्दुस्तान में आए थे । उनकी ज़बान कुछ वैदिक सी थी और उन के देवता भी इन्द्र, मरुत, सूरज और अग्नि वग़ैरा थे। जात पात उन में थी नहीं। ढंगर पालते और चराते थे। इस के बाद इन आर्यों के बहुत से भाई बंद यहाँ आए और जहाँ सींग समाया बस गए। इन की ज़बानें भी कुछ वैदिक सी थीं। जो बोलियाँ इन आर्यों की बोलियों और यहाँ की असली बोलियों के मेल जोल से पैदा हुईं उन्हें प्राकृत कहा जाता है। इन प्राकृतों में बहुत से लफ़्ज़ तो यहाँ की असली बोलियों के थे आर्यों की बोली के बहुत कम। लिखने वाले तो यहाँ तक कहते है कि आर्यों की बोली में तो, त और द की आवाज़ भी न थी और वैदिक भी यहाँ की बोलियों से मिलकर पैदा हुई है। इस की दो वजह हैं। एक तो यह कि यहाँ के रहने वालों की गिनती ज़्यादा थी । दूसरी यह कि यहाँ के रहने वालों में कुछ सभ्यता थी, आर्य जब आए तब यहां के रहने वालों के मुक़ाबले कम सभ्य थे।

आजकल की संस्कृत चौथी सदी बी० सी० के शुरू में बनाई गई, हिन्दुस्तानमें आर्यों के आने के हज़ार बरस के बाद। इन हज़ार बरसों में हिन्दुस्तान की काया ही पलट गई। आर्यों के देवताओं की जगह यहाँ के असली देवता शिव वग़ैरा पुजने लगे। आम लोग ही नहीं यहाँ के आर्य भी आर्य भाषा भूल गए। सब अपनी अपनी प्राकृत बोलते थे। वैदिक सिर्फ़ पूजा पाठ और जन्तर मन्तर के ही काम में आती थी। देस छोटी छोटी रियासतों में बट गया। जात ऐसी बनी कि आदमी आदमी न रहा। जन्म से ही कोई ब्राह्मन, कोई चन्डाल हो गया। इस जात के परदे में ब्राह्मणों ने कुछ ऐसे खेल खेले कि आप देवता के समान पुजने लगे। चाहे वह राजा के रूप में राज न करते हों, मंत्रियों के रूप में और ईश्वर के दूत की शकल में सारी ताक़त इन के हाथ में थी। हद से बढ़ कर ताक़त से पतन होता है। यही हाल ब्राह्मणों का हुआ। देखिये महाभारत का शान्ति पर्व।

सातवीं और छटी सदी बी० सी० में जैन और बौद्ध धर्म पैदा होगए और इन दोनों ने जात पात के ख़िलाफ़ प्रचार शुरू किया। ब्राह्मण ख़ूब जानते थे कि जब तक जात का झन्डा ऊँचा रहे ब्राह्मणी राज को कोई हिला नहीं सकता। जब यह धर्म ज़ोर पकड़ने लगे तब ब्राह्मणों को फ़िकर हुआ और उन्होंने इन हमलों का मुक़ाबला करने के लिये संस्कृत बनाई और जितना उसे मुशकिल बना सकते थे बनाया ताकि कोई इसे आसानी से न सीख सके। यह था ब्राह्मणी राज का कोड जिसे पानिनी ने तरतीब दी और चूंकि यह मुक़ाबला सदियों तक ज़ोरों पर रहा यह ज़बान जड़ पकड़ गई। कुछ सदियों तक तो यह केवल धर्मी ज़बान रही लेकिन जब बौद्ध धर्म को देस निकाला देने और जैनियों को एक जात बनाने में ब्राह्मण कामयाब होगए और ब्राह्मणी राज यानी जात पात फिर देस के हर हिस्से में जम गई तो अपना सिक्का ज़्यादा जमाने के लिये ब्राह्मणों ने इसे दरबारी ज़बान भी बना लिया। दरबारी ज़बान यह चौथी पाँचवीं सदी यानी आठ सौ बरस के बाद बनी, कुछ दिनों के लिये यह अदबी ज़बान भी बनी और खासी फली फूली। बतौर इल्मी ज़बान इस ने दसवीं ग्यारहवीं सदी तक राज किया। गो यह हिन्द के किसी हिस्से की बोली कभी नहीं बनी लेकिन उस ज़माने में यहाँ शायद ही कोई शहर या क़सबा हो जहाँ कोई न कोई इसे समझता न हो। मतलब यह कि जैसे आज कल अंगरेज़ी जानने वाला सारे हिन्द की सैर कर सकता है इस तरह उस ज़माने में संस्कृत बोलने वाला सारे देस की सैर कर सकता था।

यह है एक मुख़्तसर लेकिन सच्ची कहानी संस्कृत की। आजकल कुछ विद्वानों का तो यहाँ तक ख़याल है कि इस मामले में किसी पुरानी संस्कृत किताब पर विश्वास करना ठीक नहीं क्योंकि ब्राह्मणों ने दूसरी तीसरी सदी में हर एक पुरानी किताब के सफ़ों के सफ़े बदल दिये हैं; असल सवाल यह है कि संस्कृत ज़बान जो आप अपने मुँह कहती है कि मैं बनी हुई हूँ वह क्यों बनाई गई थी? ऐसी क्या ज़रूरत थी जो सदियों तक ज़ोर

करती रही। आजकल के पंडित भी इस सवाल से दूर भागते हैं। वजह साफ़ है। वह हिन्दी के बहाने संस्कृत का फिर प्रचार करने पर तुले हुए हैं ताकि फिर किसी तरह ब्राह्मणी राज क़ायम किया जा सके। हमारे सूबों के नाम ही देखिये ; पहले दो या बहुत तीन सलेबली हुआ करते थे और वह भी हलके फुलके जैसे मद्रास, बंगाल, बम्बई, गुजरात। अब जो नाम रखे गए हैं हिमाचल प्रदेश, सौराष्ट्र देश चार पाँच सलेबली, और जो छोटे भी बनाए गए हैं वह भी मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश जैसे।

साईबेरिया में एक चुकची क़ौम रहती है। उनकी पुरानकथा (रिवायत) के अनुसार जब दुनिया बनी और आदमी पैदा हुआ तो भगवान और शैतान में ठन गई। शैतान ने आदमियों को एक बड़ा भारी कोष और व्याकरण बना कर दे दिये। आदमियों को फिर भी बोलना न आया। तब भगवान ने कव्वे का रूप धारण किया और आबादी में जाकर काँ काँ करने लगे—उसे सुन कर लोगों को बोलना आगया। यह है भेद पंडितों और जादूगरों की बनावट और भगवान की सादगी में। अब भी दुनिया में भगवान और शैतान का झगड़ा बराबर चला जाता है। हमारे देस में धर्म का बड़ा ज़ोर है इसलिये यहाँ झगड़ा भी ज़ोरों पर है। कोष और व्याकरण बड़े ज़ोरों से बन रहे हैं।

हिन्दी और पंजाबी

१८७५ में मैं लाहौर में पैदा हुआ और वहाँ ही १९४७ तक रहा। मेरे माँ बाप और सारे रिश्तेदार दिल्ली और उस के आस पास के ज़िलों के रहने वाले थे इसलिये पंजाब में हम हिन्दुस्तानी कहलाते थे और जो बोली हमारी माएं बोलती थीं और जो मैंने बचपन से सीखी वह हिन्दुस्तानी कहलाती है। माँ की बोली से कौन सी बोली ज़्यादा प्यारी हो सकती है। यह हिन्दुस्तानी तो खास प्यारी है जिस में तुरकी, फ़ारसी, संस्कृत, अंगरेज़ी, चीनी, और खबर नहीं किस किस ज़बान से चुन चुन कर आसान सुडौल लफ़्ज़ लिये गए हैं और बुनावट उस की ऐसी सरल कि मैदान में दरिया बहता मालूम हो।

दिल्ली और उस के आस पास के ज़िलों के शहरों क़सबों और देहातों में हिन्दुस्तानी जनता की बोली है। इस लिये यह एक ज़िन्दा ज़बान है। इस में शक नहीं कि हिन्दुस्तान की मौजूदा ज़बानों में जिस ज़बान ने पहले पहल अदबी सूरत अख़्तियार की वह हिन्दुस्तानी थी इस में भी शक नहीं कि दिल्ली सदियों से हिन्द की राजधानी रहा है और। इसलिये यहाँ की बोली के मामूली बोलचाल और व्योपार के लफ़्ज़ हिन्दुस्तान के बहुत से सूबों में समझे जाते थे। यहाँ तक कि जब बम्बई के पारसियों ने शुरू में नाटक कम्पनियाँ बनाईं तो उन के सारे खेल इन्द्र सभा, गुलबकावली वग़ैरा सब शुरू शुरू में हिन्दुस्तानी में खेले जाते थे और बम्बई, बंगाल, यू. पी, पंजाब, सिंध, राजपूताना वग़ैरा के लोग बड़े शौक़ से उन्हें देखने जाते थे और यह नाटक कम्पनियाँ बहुत कमाती थीं। बंगाली, गुजराती नाटक कम्पनियाँ तो बाद में बनीं। शुद्ध हिन्दी में नाटक करने वाली ऐसी कमाने वाली कम्पनी शायद कभी बनी ही नहीं.

बहुत मुमकिन है कि अगर कलकत्ते को अंगरेज़ अपनी राजधानी न बनाते तो हिन्दुस्तानी का जोबन बंगाली के मौजूदा माने हुए आला जोबन से भी ज़्यादा निखरता। अगर दिल्ली सौ दो सौ बरस और हमारी राजधानी रही तो मुमकिन है कि इस का सितारा फिर चमके और बावजूद दूसरी सूबाई ज़बानों के पनपने और निखरने के हिन्दुस्तानी उन सब से बाज़ी ले जाए और वह अपने ज़ोर से सारे देस में फैल जाए। आख़िर हमारी आपस की फूट इसे कब तक दबा सकती है।

हिन्दी, जिसे हिन्दी के प्रेमी हिन्दी कहते हैं, वह भी संस्कृत की तरह एक बनाई हुई ज़बान है जो कहीं बोली नहीं जाती। संस्कृत बनाई गई थी बौद्ध और जैन धर्म को देस निकाला देने के लिये क्योंकि वह जात पात के ख़िलाफ़ थे और बराबरी और बिरादरी का उपदेश देते थे। ईसाई धर्म और इसलाम दोनों बराबरी और बिरादरी का प्रचार करते हैं। इस से जात पात को, जो हिन्दू धर्म की नींव है ज़ोर का धक्का पहुँचता है। इसलिये हमारे हिन्दू धर्म वीरों ने शुद्ध हिन्दी बनाई ताकि देस से ग़ैर-हिन्दू निकल जाएं। इस काम में उन्हें कुछ सफलता तो हुई लेकिन कुछ महंगी पड़ी। कुछ मुसलमानों को निकालने में और बाक़ी मुसलमानों और ईसाइयों को दबाने में हम इतना तो कामयाब हो गए कि वह अब हिन्द में हमारे सामने बोल नहीं सकते, लेकिन जिस सांप को मारने के लिये लाठी उठाई थी वह और ज़ोर पकड़ गया। यह बराबरी और बरादरी धर्म के रास्ते नहीं अब कम्यूनिज़्म और सोशलिज़्म के रास्ते आने लगी। यह दरवाज़े अंगरेज़ी ने खोले इसलिये इस को भी देस निकाला देना ज़रूरी हो गया। इलाज सहज है। स्कूलों में अंगरेज़ी की जगह हिन्दी पढ़ाई जाए और इस हिन्दी को भी जितना मुशकिल बना के बनाएँ ताकि तालीम फैलने न पाए। तालीम आम होने से बराबरी और बिरादरी का ख़याल बढ़ता है और पढ़े हुओं की क़दर कम हो जाती है। आज कल ही देख लीजिये जब पढ़े हुए दस बारह फ़ी सदी हैं,

क्लरकों और स्कूल मास्टरों से बढ़ई, राज और मिस्तरी ज़्यादा कमाते हैं।

इस धर्म के लिये नित नये नाटक खेले जाते हैं। आज कल पंजाब में एक निराला खेल चल रहा है। खास पंजाब की ६८ फ़ी सदी औरतें पंजाबी बोलती हैं. मुशकिल से दो फ़ी सदी हिन्दी या उरदू समझती हैं। लेकिन वहाँ के मुसलमान कहते हैं हमारी मादरी ज़बान उरदू है और हिन्दू कहते हैं हमारी मातृ भाषा हिन्दी है। चूंकि सिक्ख पंजाबी को अपनी मां बोली मानते हैं इसलिये वहाँ के हिन्दू पंजाबी को अपनी मां बोली मानने को तैयार नहीं ! इसका क्या नतीजा होगा, ईश्वर जाने।

हमारे देस में धर्म के रूप न्यारे न्यारे हैं। पंजाबी और हिन्दी दोनों सूरसैनी में से निकली हैं। उन की ग्रामर ही एक नहीं बहुत से घरेलू लफ़्ज़ भी वही या वैसे ही हैं। इसे हिन्दी कहना पाप समझा जाता है ! लेकिन अवधी और ब्रज भाषा जिन की ग्रामर भी अलग है वह हिन्दी हैं ! यह भेद क्यों ? क्या इसलिये कि अवधी और ब्रज भाषा के ग्रन्थों में ब्राह्मणों का बड़प्पन मान लिया गया है और ग्रन्थ साहब में जात पात का विरोध है।

ख़ालिस बोली--खिचड़ी बोली और बोली की दीवार

कुछ अंगरेज़ी विद्वानों का यह ख़याल दुरुस्त मालूम होता है कि एक अंगरेज़ के लिये अंगरेज़ी सीखना ज़्यादा मुशकिल है बनिस्बत एक जरमन या फ्रांसीसी के लिये जरमन या फ्रांसीसी सीखना। वजह यह बताई जाती है कि फ्रांसीसी, स्पैनिश और इटालियन रोमानी ज़बानें हैं जिनकी जड़ें अकसर लातीनी से निकली हैं इसलिये इन ज़बानों के बहुत से लफ़्ज़ ऐसे हैं जिन की जड़ वही होने के कारण उन सब लफ़्ज़ों का जो उस जड़ से निकले हैं समझना और याद करना बहुत ज़्यादा आसान है। यही हाल स्वीडिश, डैनिश और जरमन का है क्योंकि उन के अकसर लफ़्ज़ जरमैनिक जड़ों से निकले हुए हैं इसलिये जब एक जड़ सीख ली तो, उस जड़ में से जितने लफ़्ज़ अपनी बोली में आ गए हैं उन की शकल चूंकि आपस में मिलती जुलती है और वह एक ही घराने के मालूम होते हैं, उन्हें समझना और याद रखना मुशकिल नहीं होता। अंगरेज़ी चूँकि एक खिचड़ी बोली है जिस में अकसर लातीनी जड़ों के लफ़्ज़ और जरमैनिक जड़ों के लफ़्ज़ ही नहीं, काफ़ी यूनानी लफ़्ज़ भी आ मिले हैं, इसलिये उन्हें जानने के लिये याददाश्त पर ज़्यादा ज़ोर डालना पड़ता है। बिलकुल ख़ालिस बोली तो दुनिया में न कोई हुई और न कोई है। थोड़े बिदेसी लफ़्ज़ तो हर ज़बान में आ ही जाते हैं। उन से ज़बान की बनावट में फ़रक़ नहीं आता, वह तो दाल में नमक मसाले का ही काम देते हैं।

अंगरेज़ी में यह दो भाँतिपन क्यों और कैसे आया? इस का जवाब इंगलैन्ड की हिस्ट्री देती है जिस में पड़ने की यहाँ कोई ज़रूरत नहीं। यह

बताना ज़रूरी मालूम होता है कि चौदहवीं सदी से लेकर उन्नीसवीं सदी तक यानी पाँच सौ बरस इन दोनों में एक दूसरे को निकालने के लिये ख़ूब जंग रही लेकिन चली किसी की नहीं। कभी किसी का पलड़ा भारी हुआ कभी किसी का। आख़िर मिल जुल कर ही बसेरा करना पड़ा। दूसरी बात यह कि लातीनी और जरमैनिक दोनों आर्य भाषा की बेटी हैं। केवल जुग्राफ़िया दोनों का जुदा। एक उत्तर में जा कर बसी, दूसरी दक्खिन में जिनसे इन के रंग रूप में ही नहीं बनावट में भी फ़रक़ हो गया।

हमारी बोली खिचड़ी नहीं सतनजी है। गो मुझे अब याद नहीं कि बचपन में इसे सीखने के लिये मुझे कोई ख़ास मुशकिल हुई थी। इतनी समझ अब ज़रूर है कि एक हिन्दुस्तानी बच्चे के लिये यह खड़ी बोली हिन्दुस्तानी सीखना इतना आसान नहीं जितना शायद एक ब्रजबासी के लिये ब्रज भाषा या एक मदरासी के लिये अपनी मां बोली सीखना। इसलिये अगर मेरे बच्चों के बच्चों और उन के बच्चों के लिये यह आसान बनाई जा सके और हम न बनावें तो हम अपनी सन्तान के दुशमन हैं। आजकल कुछ भाई इस का सतनजापन निकालने की धुन में हैं और अगरचे वह आसान के माने नहीं समझते केवल शुद्धी को समझते हैं उनका हाथ बटाना हमारा धर्म है। क्योंकि मुशकिल लफ़्ज़ तो घिस कर आप ही आसान हो जाएंगे (ज़बान की इस बाढ़ को कोई नहीं रोक सकता) भाषा बिना बीने एकनजी नहीं हो सकती। लेकिन बीनने से पहले यह सोचना ज़रूरी है कि क्या हम बीनने में सफल हो सकते हैं? अगर नहीं तो कोशिश फ़ज़ूल ही नहीं नुक़सान पहुंचाती है।

यह तो सब जानते हैं कि इस सदी के शुरू में दो एशियाई क़ौमें आज़ादी हासिल करते ही यह काम कर सकीं। जैसा कि मैं हरफ़ों के बाब में लिख आया हूँ तुर्क अपनी ज़बान में से सारे अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ निकालने में कामयाब हो गए। ईरानियों ने सारे अरबी लफ़्ज़ों को देस निकाला देना ठीक नहीं समझा लेकिन उनकी ईरानी में जितने फ़ज़ूल

अनगिनत भरती के लफ़्ज़ घुस गए थे उन सब को उन्होंने मार भगाया। हमारे भाई भी इन तुर्कों और ईरानियों की तरह उन अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों को जो हमारी हिन्दुस्तानी में आ घुसे हैं निकालना चाहते हैं और बड़े ज़ोरों से कहते हैं कि जो तुर्क और ईरानी कर सके वह हम तो बहुत आसानी से कर सकते हैं क्योंकि हमारे पास संस्कृत का भंडार मौजूद है। ज़ाहिरा तो उनकी बात सोलह आने पक्की मालूम होती है। फ़ारसी में एक कहावत है—आधे हकीम से जान का डर आधे मुल्ला से ईमान का डर—इसी तरह आधे पँडित से देस का डर। हमारे पंडित आधे पंडित हैं। अपना इतिहास जो सच पूछो इतिहास नहीं इति-रोना है उसे तो वह जान ही नहीं सकते क्योंकि हमारे कुछ बड़ों ने उस पर ख़ूब मोटा गाढ़ा पोचा फेर रक्खा है और दूसरों का इतिहास जानने की उन्हें कभी ज़रूरत ही नहीं पड़ी। इसलिये मुनासिब है कि हम कुछ थोड़ी सी सरसरी निगाह तुर्कों और ईरानियों के इतिहास और जुगराफ़िये पर डालें और फिर अपने इतिहास और जुगराफ़िये से उन्हें मिलाएं।

ईरान के शुरू की तवारीख़ की बाबत लिखने की यहाँ ज़रूरत नहीं। शायद हिन्दुस्तान से पहले आर्य ईरान में जाकर बसे। ईरान और आर्य दोनों एक ही धातु से हैं। जो पहली फ़ारसी है वह वैदिक से बहुत कुछ मिलती जुलती है। लेकिन आहिस्ता आहिस्ता उस क़ानून के मुताबिक जो हर बोली पर लागू है उस के बन्द ऐसे खुले कि स्वरों से लद गई। लफ़्ज़ घिस घिस कर छोटे होते गए। छटी सदी बी० सी० में ईरानी राज को वह चाँद लगे कि रूम सागर से लेकर हिन्दुस्तान में कशमीर की घाटियों और सिन्ध की वादियों तक फैल गया। गो चौथी सदी बी० सी० में सिकन्दर ने उस मुल्क को फ़तह कर लिया पर राज ईरान में ईरानियों का ही रहा। यह ठीक कि वह दो सदियों तक यूनान को ख़िराज देते रहे। तब से सातवीं सदी ईसवी तक यानी कोई दो हज़ार बरस तक ईरान में राज बहुत कुछ ईरानी आर्यों का ही रहा। नतीजा यह कि ईरानी भाषा सुधरती

रही। सातवीं सदी में मुसलमान अरबों ने ईरान को जीता। ईरानियों ने इसलाम ज़रूर क़बूल किया लेकिन इसलाम की परहेज़गारी उन्हें अपने में समो न सकी। वही खिलाने पिलाने का प्रेम, राग और चित्रकला का अनुराग, शेर व सुखन का शौक़ और प्रकृति की पूजा उनमें जारी रही। यह हैं चार ख़ास गुण आर्यों के। हमें भी दावा है आर्य होने का लेकिन उन के गुणों में से एक भी अब हमारे में नहीं पाया जाता। जो थोड़ा बहुत ग़लती से कहीं दिखाई दे जाता है तो वह समझ लो इन ईरानियों, यूनानियों और और पच्छिमी क़ौमों की मेहरबानियों का नतीजा है। गो इस मनचली क़ौम पर अरब कुछ ज़्यादा मुद्दत तक हकूमत न कर सके, अरबी ने अपना सिक्का ईरानी पर जमा लिया। इसमें कुछ तो हकूमत का हाथ था लेकिन बहुत सा हाथ उस इल्मी ज़ख़ीरे का था जो अरबों के इल्मी शौक़ ने सारी दुनिया के इल्मों से अरबी में जमा कर लिया था। अरबी सदियों तक पच्छिमी एशिया की ही नहीं बहुत से योरपी देसों की इल्मी ज़बान रही है। दसवीं सदी में जब हकूमत की बाग ईरानियों के हाथ में फिर आ गई तो ईरानी ने भी फिर पर निकाले, फ़रदौसी ने उस सदी के आख़िर में शाहनामा लिखा जिस की ज़बान शुद्ध ईरानी है। फिर भाषा विद्या के इस नियम के अनुसार जिस को मैं बहुत दफ़ा लिख चुका हूँ अरबी जो इल्मी ज़बान थी उस ने ईरानी को दबा लिया। हाफ़िज़ जो चौदहवीं सदी में पैदा हुआ था उस की शायरी अरबी लफ़्ज़ों से लदी हुई है। नतीजा यह कि कोई ईरानी कुछ अरबी जाने बिना अपनी बोली की कविता को समझ नहीं सकता। ईरानी दो हिस्सों में बट गए। ९० फ़ी सदी से ज़्यादा अनपढ़ और पाँच छै फ़ी सदी पढ़े हुये। इन दो हिस्सों को जुदा करने के लिये ज़बान की दीवार चुनी गई। इस दीवार को खड़ी करने वाले थे ईरान के ब्राह्मण जिन्हें शायद वह मौलाना कहते हैं। इन ब्राह्मणों का चाहे वह किसी देस या ज़माने के हों सबसे बड़ा हथकंडा है जादू टोने का और ख़ास कर भाषा का जादू। बोलेंगे ऐसी बोली जो दूसरा अच्छी तरह से समझ न सके।

जा पाठ कराएंगे तो ऐसी बोली में जो समझ से बाहर हो। तावीज़ गुरमंत्र सब का यही ढंग। दूसरा जादू जो वह सदा चलाते हैं वह है बड़े बाप के बेटे का ताकि जजमान आगे की न सोचें पीछे को ही ताकते रहें।

उन्नीसवीं सदी में ईरानियों को भी लोकराज की सूझी। क़ानूनी मजलिसें बनीं भी, टूटीं भी। बादशाह अच्छे भी हुए बुरे भी। सन् १९२१ में रज़ाखान एक फ़ौज़ी अफ़सर ने हकूमत को बाग ज़बरदस्ती अपने हाथ में ले ली और १९२५ में शाह ही नही मुल्क का अकेला डिक्टेटर बन बैठा। वह देसप्रेमी था इसलिये देस को भी उस से प्रेम हो गया। वह देस का रुख़ बदलना चाहता था। आगे देखो, पीछे देखना छोड़ दो। किसी गिरे हुये देस को सुधारने का यही गुरमंत्र हो सकता है। परदा उड़ा कर और शादी तलाक़ के कानूत में सुधार कर के औरतों को आज़ाद किया। और बोली को अरबी से छुड़ाकर प्रजा को वहांके ब्राह्मणो की क़ैद में से निकाला और वह फ़सील गिरा कर जो ईरानी को ईरानी से जुदा करती थी देस में एकता पैदा की और तालीम आसान कर दी। यह तो सब जानते हैं कि ईरान में मुसलमान ही रहते हैं, उनकी लिपि एक है और बोली भी बहुत कुछ एक।

तुर्कों के पुराने इतिहास में जाने की ज़रूरत नहीं। इतना कहना काफ़ी है कि मुसलमानों के आने से पहले भी तुरकी एक बहुत बड़ा राज था। ज़बान बहुत सादा सुलझी हुई। ग्रामर सादा और ग्रामरी जिन्स से पाक। कुल आठ स्वर और लफ़्ज़ स्वरों से लदे हुए। गो अरबों की हकूमत तुर्कों पर बहुत दिन न रह सकी अरबी अपने इलमी ख़ज़ाने की वजह से उन्नीसवीं सदी तक तुर्की ज़बान की गरदन पर सवार रही और उस में जुड़े हुए व्यंजनों की बीमारी पैदा कर दी। तुर्की सुलतानों की हकूमत दूर दूर के मुल्कों तक फैली यहां तक कि अरब भी इनके राज में आ गया। तुर्क सुलतान ही न हुए इसलाम के ख़लीफ़ा भी बन बैठे। इस का नतीजा यह हुआ कि तुर्की ब्राह्मणों की पांचों उंगलियां घी में। वही ब्राह्मणों के

हथकंडे ज़बान के जादू तुर्की में भी खेले जाने लगे। ज़बान की दीवार यहां भी खड़ी की गई। शुकर इतना है कि यह दीवार शहर और देहात के बीच में खड़ी की गई। शहर की बोली तो आधी अरबी हो गई लेकिन देहात की बोली बहुत कुछ तुर्की ही रही और इसलिये तुर्कों के वास्ते तुर्की ज़बान को फिर ज़िन्दा करना मुमकिन हो गया। उन्नीसवीं सदी में तुर्कों के दिलों में भी आज़ादी की तरंग उठी और साथ ही यह ख़याल भी आ गया कि आज़ादी हासिल करने के लिये यह दीवार भी गिरानी पड़ेगी। चुनांचे उन्नीसवीं सदी के आख़ीर में कुछ ऐसे नौजवान पैदा हो गए जिन्होंने भाषा को सुधारने की कोशिश की लेकिन ख़िलाफ़त के ब्राह्मणों के सामने उनकी कुछ चली नहीं।

१९२३ में तुर्की में प्रजाराज हुआ। कमालपाशा उसका पहला प्रेज़ीडेन्ट एक फ़ौजी अफ़सर था जिसने अपनी बहादुरी से तुर्की को पहली जंग में इस ख़ूबी से बचाया कि जवान तुर्कों की आंखों का तारा बन गया। क़ौम और देस का सच्चा आशिक़ था इसलिये क़ौम भी उस पर जान देती थी। वह डिक्टेटर बन बैठा। स्याह करे, सुफ़ैद करे किसी की मजाल न थी जो उसके सामने चूं कर सके। वह जानता था कि जब तक वह तुर्कों का रुख़ न बदले यानी जब तक वह ब्राह्मणों के जादू के मंदिर को न तोड़े और उसमें स्थापित किये हुए भूतकाल के देवता को देस से न निकाले देस उभर नहीं सकता। इस रुख़ को बदलने के लिये उसने पांच छै ऐसे नादिरशाही हुक्म दिये जो सिर्फ़ वह ही दे सकता था और जिन की वही तामील करा सकता था। और देसों के मुसलमानों की तरह तुर्क भी शरीयत का दीवानी कानून मानते थे। उसकी जगह कमाल ने स्विटज़रलैंड का दीवानी क़ानून टर्की में जारी कर दिया। पर्दा करना और कराना जुर्म बना दिये। इन दो सुधारों से औरत क़ानून में मर्द के बराबर हो गई। भारत में हिन्दू कोड (जो उसके सामने एक बहुत छोटा सुधार है) चार बरस से लटक रहा है। लटक लटक कर इतना दुबला

हो गया है कि शायद सभा में और पतला पड़ कर क़ानूनी सभा की छलनी में से छन निकले। तुर्की में कमालपाशा ने जो सब से बड़ी और खूबसूरत मसजिद थी उसे कुछ तबदील करके अजायब घर बना लिया और कई मसजिदों को दफ़्तर या स्कूल बना लिया। हमारे देस में सड़क को भी सीधा करने के लिये हम किसी मंदिर या मसजिद का कोना नहीं हिला सकते। वहां धर्म का सारा जादू अरबी हरफ़ों में था। उसने अरबी हरफ़ों को देस निकाला दिया। पहली जनवरी १६२६ के बाद वहां एक किताब भी अरबी हरफ़ों में नहीं छपी। हमारे यहां ब्राह्मणी लिपि को देस निकाला देने की जगह देवनागरी को सरकारी लिपि बनाने की तजवीज़ पास हो चुकी है। कमाल ने तुर्की में से वहां की ब्राह्मणी भाषा अरबी के सारे लफ़्ज़ निकलवा डाले। हमारी सरकार ब्राह्मणी भाषा संस्कृत को बुला रही है ताकि यहां की प्रजा सरकारी बोली को समझ न सके।

तुर्कों के सिर का लिबास वह लाल तुर्की टोपी काले फुंदने वाली हुआ करती थी। कमाल ने उसका पहनना भी जुर्म क़रार दिया और तुर्कों को फ़िरंगी टोपी पहनाई। तुर्की ब्राह्मणों का अपना ब्राह्मणी लिबास पहन कर घर से बाहर निकलना बन्द कर दिया। यह सब कुछ उसने अपने देस का रुख़ बदलने के लिये किया। इस के लिये उसे कुछ समाजी शाखें ही नहीं जड़ें भी काटनी पड़ीं। वह अपनी क़ौम को सदा यही ललकार कर कहता था "तुर्को, बहादुरो, बढ़े चलो"। ६८ फ़ी सदी तुर्क मुसलमान हैं और ८६ फ़ी सदी की मां बोली तुर्की है। योरपी ज़बानों में से फ़्राँसीसी का सबसे ज़्यादा ज़ोर है, फिर जर्मन, फिर इतालियन, अंगरेज़ी चौथी जगह है। साइन्सी टर्म फ़्राँसीसी से लिये गए और बहुत से योरपी लफ़्ज़ ज़बान में आम हो गए। इन सब सुधारों का बोली पर यह असर हुआ कि आजकल की तुर्की दसवीं सदी की तुर्की से बहुत कुछ मिलती जुलती है। गो तुर्की में स्वर कुल आठ हैं लफ़्ज़ स्वरों से इतने लदे हैं कि बोली में शक्कर घुल गई। इन सुधारों से पहले टर्की में

भी लिखने वाले चन्द पढ़े हुओं के लिये ऐसी भाषा और ऐसे विषयों पर लिखते थे जो सिर्फ़ पढ़े हुए समझ सकते थे। आम जनता का किसी को ध्यान न था। इन सुधारों ने काया पलट दी। अब क़ौमी नारा "ख़ुल्क़ डोग्रू" (ख़ल्क़ = जनता, डोग्रू = में घुसो) है और सोसाइटियाँ बनीं जिन का आदर्श ही यह है कि ऐसी सलीस सुथरी भाषा में लिखो जो जनता आसानी से समझ सके।

हमारे यहाँ न एक मत, न एक लिपि, न एक भाषा, न कोई फ़ौजी डिक्टेटर जो भूत से भविष्य की तरफ़ हमारा रुख बदले। ताक़त वोट की है और वोट भी अनपढ़ों की जिनका गुज़ारा खेती पर है। यह एक मानी हुई बात है कि जिस देस में गुज़ारा बहुत कुछ खेती बाड़ी पर हो वहाँ ज़ोर ब्राह्मणों का होता है जो सदा भूत नचाते हैं। उन का बस चले तो और किसी को पढ़ने न दें। बीसवीं सदी में यह बात खुल्लम खुल्ला तो नहीं कही जा सकती पर भाषा को मुशकिल से मुशकिल बना कर वही मनोरथ सिद्ध हो सकता है। उरदू वालों ने उरदू मुअल्ला बनाई जो "जो समझे सो समझे जो न समझे अपनी जहालत के हवाले"। हिन्दी वाले हिन्दी को संस्कृतमई बना रहे हैं जिस से एक ऐसी लोहे की दिवार खिच जाए जो आसानी से टापी न जाए। दफ़्तरी बोली के लिये वह लिपि चुनी गई जिस की लिखाई छपाई दोनों मँहगी और मुशकिल हों। इन ब्राह्मणों के अनपढ़ चेलों की वोट लेने के लिये हर एक पार्टी भाषा को दिनों दिन मुशकिल बना रही है ताकि दलील से नहीं मोटे लफ़्ज़ों के जादू से वोट लिया जाए। हमें आज़ादी बहुत कुछ गाधी जी की मेहरबानी से मिली। अगर वह चाहते तो शायद डिक्टेटर हो सकते थे लेकिन वह अहिन्सा का देवता कहना भी मनवाता था तो रूठ कर। उस के नमिलवर्तन (असहयोग) के हथियार से भी ब्राह्मणी राज को डर था इस लिये एक अधिक बहके ब्राह्मण ने उसे मार डाला। कौन जाने कल क्या होगा। मुमकिन है कि यहां की हकूमत की बाग डोर किसी दिन किसी

ऐसे फ़ौजी अफ़सर के हाथ आ जाए जो डिक्टेटर बन कर देस का रुख़ बदल दे। अगर ऐसा जल्द न हुआ तो किसी भी सुधार के लिये तब तक २५-३० बरस सब्र करना पड़ेगा जब तक नई पौद जवान नहीं होती। मुमकिन है कि इस अरसे में इस तरह के ब्राह्मण फिर किसी बिदेसी क़ौम को यहां बुला लें या ऐसी हालतें पैदा कर दें जिन से ग़ैरों का फिर हिन्द में हकूमत करना मुमकिन हो जाए।

कल क्या होगा इस पर लिखना नादानी है। इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि जब तक किसी देस के बदन में कोई कीड़ा लगा रहे वह देस पनप नहीं सकता। ज़बान का जादू, ज़बान की दीवार, मरे हुए बाबा की मोटी मोटी आंखें यह तीनों बीमारियाँ जान लेवा न सही देस का लहू चूस लेती हैं। विद्वान कहते हैं कि इतिहास मुड़ मुड़ कर वही दृश्य दिखाता है; इसलिये अपने इतिहास पर कुछ नज़र डालनी मुनासिब है।

आर्यों के आने से पहले सिन्ध पंजाब में तो ज़रूर और ख़याल किया जाता है कि राजपूताना और दक्खिन में भी सरस्वती, नर्बदा और ताप्ती की वादियों में सुमेरी सभ्यता फैली हुई थी। वह उस ज़माने के लिहाज़ से बड़ी ऊँची सभ्यता गिनी जाती है। हिन्द के दूसरे हिस्सों का हाल मालूम नहीं लेकिन ख़याल यही है कि वहाँ सभ्यता बहुत कम थी। उस ज़माने की बोलियों का हमें अभी तक कुछ पता नहीं, लेकिन आर्यों के आने के दो तीन सौ बरस बाद जो बोली यहां बोली जाती थी वह वैदिक थी जो आर्य भाषा और हिन्द भाषा के जोड़ से पैदा हुई थी। इसलिये उसे पुरानी संस्कृत कहना ठीक नहीं क्योंकि यह प्राकृत यानी कुदरती भाषा थी। इस वैदिक भाषा में बड़े अच्छे अच्छे कवि हुए हैं जिनकी कविता को वेद कहते हैं। आहिस्ते आहिस्ते, जैसे कि हमेशा होता है इस भाषा के लफ़्ज़ भी छोटे और स्वरों से लदने लगे और इसने देस देस में जाकर चार सौ बरस में कई रूप रंग बदले। इस अरसे में जात पात भी

बन गई। सातवीं सदी बी. सी. में बौद्ध और जैन धर्मों ने जन्म लिया। इन धर्मों की दया से पांचवीं छटी सदी बी. सी. में जो प्राकृतें बोली जाती थीं उन में से कुछ का ज्ञान अभी तक हो सकता है, इन प्राकृतों से एक बात साफ़ है कि हमारी आजकल की बोलियां उन प्राकृतों से ज़्यादा मिलती जुलती हैं और संस्कृत जो पीछे बनाई गई थी उस से कम मिलती हैं। इसके माने यह हुए कि जिन्हें पंडित तद्भव शब्द कहते हैं वह असल में तत्सम हैं और तत्सम तद्भव।

पाली की डिक्शनरी में ऐसे सैकड़ों लफ़्ज़ मिलते हैं। मैं नमूने के तौर पर थोड़े से लिखता हूं :—

प्राकृत	संस्कृत	हिन्दी	पंजाबी
छै	षष	छै	छी
सत्ता	सप्त	सात	सत
संझा	सन्ध्या	सांझ	सं झा
सिप्पी	शुक्ति	सीपी	सिप्पी
सिप्पी	शिल्पिन	सेपी	सेपी
दस-दह	दश	दस	दस-दह
बारह	द्वादश	बारह	बारां
तेरह	त्रयोदश	तेरह	तेरां
घर	गृह	घर	घर
कहाँ	कुत्र	कहाँ	किथे
पुन्नो	पूर्णमासी	पूनो	पुन्नो
रुखो	रुत्त	रूखा	रुखो
रोगी	रोगिन	रोगी	रोगी
सुई	सूची	सुई	सूँई
मट्टिआ	मृत्तिका	मट्टी	मट्टी

कण्हो-कण्णो	कृष्ण	कान्ह-किशन	कान्ह-किशन
जइसो	यादृशा	जैसा	जेहा
सालो	श्याल	साला	साला
सामलो	श्यामल	सांवला	
माउसिज्जा	मातृष्वसा	मौसी	मासी
पोत्थअं	पुस्तकं	पोथी	पोथा
रुक्ख	वृक्ष :	रुख	रुख
मसाणं	श्मशानं	मसान	मसाण
संकलं	श्रृंखलं	सांकल	संकल
सच्च	सत्य	सच	सच्च
रात्ती	रात्री	रात	रात्तीं
अग्गी	अग्नि :	आग	अग्ग

संस्कृत के बनाए जाने का कारण मैं संस्कृत के बाब में लिख आया हूँ। गो संस्कृत बनी थी चौथी सदी बी. सी. में, पहला पत्थर जिस पर संस्कृत खुदी हुई है वह १५० बी. सी. का है और इस के बाद के भी जितने पत्थर दो तीन सौ बरस तक के मिले हैं वह प्राकृत में हैं। संस्कृत पत्थर तो तीसरी सदी बी.सी. में खुदने शुरू होते हैं। माने यह कि संस्कृत को दरबारी ज़बान बनने में पांच छै सौ बरस लगे थे। किसी नई भाषा को पन्द्रह बरस में दफ़्तरी ज़बान बनाने का ख़याल अछूता है। लाख दिल को समझाओ, जो भाषा बनाई जा रही है नई भाषा ही नहीं एक बनावटी भाषा है। आजकल पुराने संस्कृत शब्द ही नहीं लाए जा रहे, बल्कि हमारी बोली के मामूली से मामूली लफ़्ज़ों को संस्कृत का जामा पहनाया जा रहा है। दूसरे लफ़्ज़ों में यूं कहना शायद ग़लत न हो कि हमारी बोली को वैदिक से मिलाया जा रहा है और लफ़्ज़ों के लिहाज़ से हम तीन हज़ार बरस पहले जाना चाहते हैं।

आर्य यहां एक हल्ले में नहीं आए, एक दो सदी तक वे लहरों में आते रहे। जो लहर आई उसने अगली को और आगे ढकेला। यहाँ आकर उन्होंने खेती बाड़ी सीखी, इसलिये उनमें भी ब्राह्मण पैदा हो गए। एकता का भाव उनमें अभी पैदा हो नहीं सका था कि समाज अलग अलग जातियों (Communities) में ही नहीं अलग अलग जातों (Castes) में भी बट गई। समाज के टुकड़े टुकड़े करने के लिये यह नसल और जात की दीवारें काफ़ी न थीं संस्कृत बना कर एक भाषा की छत डाली गई। जो इसे जाने वह ऊपर की छत पर रहने वाला अपने आप को कुछ देवता सा समझने लगा। इस तोड़ फोड़ का फल है हमारा इति-रोना जिसे विद्वान हमारा इतिहास कहते हैं। जिस का दिल चाहा हमारे देस में आ घुसा और आकर राज करने लगा। और सब से ज़्यादा रोने की बात यह कि आज हमारे विद्वान इस सभ्यता पर प्रफुल्लित हो कर नाचते हैं। चौथी सदी बी.सी. में ईरानी आए, दूसरी सदी बी.सी. में यूनानी आए, पहली सदी बी. सी. में गूजर आए, फिर बहुतेरे आए राजपूत, मंगोलियन, हुण और बहुत सी कौमें—पच्छिम से भी, पूरब से भी और उत्तर से भी। दो चार हज़ार का लशकर जमा करना और पच्छिम से पूरब तक का धावा बोलना मुमकिन होगया। और तो और जो यहाँ आग लेने भी आया घर का मालिक बन बैठा। पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, अंग्रेज़ ब्योपार के लिये आए थे, राजे बन बैठे। अजब तमाशा है, इतनी क़ौमें यहां आकर बसीं लेकिन हमारा ख़ून अभी तक शुद्ध आर्यों का ही रहा और इसलिये हमारा धर्म है कि हम अपनी शुद्ध आर्य भाषा वैदिक ही बोलें। और दूसरी अति-हांसक बात यह है कि इस अरसे में चाहे कितने ही राज यहां बने और लुटे, ब्राह्मणी टैक्स जो हम पर दो तीन हज़ार बरस हुये लगाए गये थे वह हम अब तक बड़ी खुशी से देते हैं। कोई हिन्दू जनम नहीं ले सकता, ब्याह नहीं सकता, मर नहीं सकता और तो और पुरखों को याद नहीं कर सकता जब तक अपनी आमदनी के अनुसार वह यह टैक्स अदा

न करे । चाहे हम पैसे पैसे के लिए झूट बोलने, चोरी करने रिश्वत देने में और सब देसों को मीलों पीछे छोड़ आए हों, हमारा यह खुशी खुशी टैक्स देना हिन्दू जाति को महा-धर्मी और महा-आत्मी बनाता है । इसलिये इस धर्म शक्ति को किसी तरह हानि पहुँचाने से ज़्यादा और कोई पाप बड़ा नहीं हो सकता ! हमारी बोली का इतिहास इस बात का सबूत है कि जब कोई प्राकृत यानी बोल बोली, लिखी बोली का रूप धारन करती है तो उस का मुख्य प्रचार जात पात के विरुद्ध होता है और इस तरह इस टैक्स को हानि पहुँचाता है । बौद्ध और जैन मत ने यही प्रचार अपनी प्राकृतों में किया । सदियों बाद हिन्दुस्तानी पैदा हुई । उस में भी कबीर, नानक आदि ने यही राग अलापे । इसलिये ऐसी भाषा को जीते रहने देना महा पाप है ! ऊपर से यह अंग्रेज़ी आ टपकी जो बराबरी बराबरी ही चिल्लाती है । ऐसे कड़े वक्तों में संस्कृत ही हमें फिर बचा सकती है ! इसलिये उसे लाओ ज़रूर, संस्कृत के रूप में नहीं ला सकते तो हिन्दी की ही शकल में सही !

मैने बचपन में उरदू की और संस्कृत की ग्रामरें कुछ कुछ पढ़ी थीं । हिन्दी की ग्रामर देखने का इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ था । इस किताब को देवनागरी में छपवाने के लिये मैंने अपनी एक नवासी से उस की हिन्दी ग्रामर ली । उसे देख कर लिंडले मर्रे की अंगरेज़ी ग्रामर याद आगई जो उन्नीसवीं सदी के शुरू में इंगलैंड के बहुत से स्कूलों में पढ़ाई जाती थी, जो नाम को तो अंगरेज़ी सिखाने के लिये लेकिन असल में लातीनी सिखाने के लिये लिखी गई थी । यही हाल इस हिन्दी ग्रामर का था । नाम को हिन्दी की, लिखी गई संस्कृत सिखाने के लिये । सुनता हूं यह ग्रामर यू. पी. और दिल्ली में कोर्स में है । देख कर दिल ठंडा हो गया । ऐसा मालूम होता है कि हम भी वही ग़लती करने पर तुले हुए हैं जो अंगरेज़ अपने देस में उन्नीसवीं सदी तक करते आए हैं । विलियम वार्ड ने अपनी अंगरेज़ी ज़बान की ग्रामर (१७६७) में लातीनी टरमों के बरतने

की वजह इस तरह बयान की है—"चूंकि किसी आदमी को पता नहीं कि उसे फिर कोई और ज़बान भी सीखनी पड़े तो उसे अंगरेज़ी भी क्यों न इस तरह सिखाई जाए जिस से उसे और ज़बान सीखने में आसानी हो।" क्या ख़ूब! अंगरेज़ी सीखना चाहे हर एक के लिये मुशिकल हो जाए! कैसी अचरज की बात है कि अंगरेज़ी जानते हुए भी हमारे शिक्षा विभागी और यूनीवरसिटियाँ दूसरों की ग़लतियों से फ़ायदा नहीं उठा सकतीं। ईश्वर उन्हें चिरंजीव करे ताकि अपनी ग़लतियाँ वह आप देख सकें और हमारी संतान को इस मुसीबत से छुटकारा मिले।

चान्द बरदाई हमारी भाषा का सब से पहला कवि कहा जाता है। उस की कविता में भी बहुत से फ़ारसी के लफ़्ज़ पाए जाते हैं। यह लाहौर का रहने वाला पृथ्वीराज के दरबार का कवि था। हिन्दी का दूसरा दौर अकबर के ज़माने का है। उस में भी फ़ारसी लफ़्ज़ों से परहेज़ नहीं। अगर हिन्दी उरदू के विकास और झगड़े की बाबत ज़्यादा जानना हो तो पं० पद्म सिंह शर्मा की किताब "हिंदी, उरदू और हिन्दुस्तानी" पढ़ लीजिये। एक हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सभापति की बाबत यह कहना कि वह फ़ारसी के पक्षपाती थे, ठीक नहीं मालूम होता। उन के विचार के अनुसार हिन्दी को बिदेसी लफ़्ज़ों से साफ़ करने का ख़याल बहुत पुराना नहीं और बहुत कुछ चन्द कम समझ मुसलमानों की रीस का फल है। कुछ मुसलमान हिन्दी शब्दों से परहेज़ करते थे, उन की देखा देखी कुछ हिन्दू भी फ़ारसी लफ़्ज़ों को अछूत समझने लगे। इस परहेज़ की एक और वजह भी दी जाती है। उस पर ठंडे दिल से विचार करने की ज़रूरत है।

मैं पहले लिख आया हूं कि बंजारों की मेहरबानी से दिल्ली की बोली दूर दूर के देसों में अगर बोली नहीं तो समझी जाने लगी। इस बोली में बहुत से लफ़्ज़ तो हिन्दी के थे, कुछ फ़ारसी के, पर संस्कृत का शायद कोई न था। इसी तरह रमते साधू संतों की मेहरबानी से कोई दस बीस

संस्कृत के ऐसे शब्द जिन का वास्ता धर्म से था सारे हिन्दुस्तान में समझे और बोले जाने लगे। मैं यह भी लिख आया हूं कि मुसलमानी राज से पहले संस्कृत सदियों तक हमारी इलमी ज़बान रही है और इसलिये जब किसी प्राकृत ने उन दिनों अदबी सूरत अख़्तियार की तो उस में बहुत से संस्कृत के शब्द कुछ तत्सम रूप में और कुछ तद्भव रूप में आ घुसे। अब हम चाहते हैं कि सारे हिन्दुस्तान की एक भाषा हो। इतने बड़े देस में एक भाषा बनने के लिये तो सैंकड़ों बरस चाहियें लेकिन अब हम इतना तो कर सकते हैं कि हम अपनी राष्ट्र भाषा ऐसी बनाएं जो सब प्रान्तों में आसानी से समझी जा सके। इस का सहल तरीक़ा यह है कि जो जो लफ़्ज़ हिन्द की हर एक बोली की डिक्शनरी में उसी रूप या वैसे ही रूप में पाए जाते हों उन्हें अपनी राष्ट्र भाषा में तत्सम रूप में ले आवें चाहे वह शब्द किसी भी प्रान्त की बोल बोली में उस तत्सम रूप में न पाया जाता हो। यह विचार देखने में तो सुन्दर हीं नहीं सरल भी मालूम होता है। ख़राबी है तो केवल यह कि भाषा विद्या के सारे मोटे मोटे नियम जो मैंने पच्छिमी विद्वानों की किताबों से लेकर इस किताब में लिखे हैं वह सब टूटते हैं:—(१) भाषा जो देस में फैलती है वह अकसर राजधानी की बोल बोली होती है या कभी कभी किसी कवि या धर्मी लीडर की। (२) कोई ताक़त जल्दी किसी भाषा के ताने बाने और उस की बुनावट को बदल नहीं सकती। इन तत्सम शब्दों से हमारी सब बोलियों का ताना लम्बा हो जाता है। (३ हमारी आज कल की इलमी ज़बान अंगरेज़ी है, संस्कृत नहीं, इस वक़्त देस में अंगरेज़ी जानने वालों की गिनती संस्कृत के जानने वालों की गिनती से कई गुनी है, इसलिये यह नामुमकिन है कि हमारी बोलियों की उठती जवानी में उस का रंग न आए। (४) हमारे देस में हिन्दू ही नहीं रहते और मतों के लोग भी रहते हैं, उनसे हमें मेल रखना पड़ेगा। (५ भाषा सदा सरलता की तरफ़ बहती है, मोटे नोकदार शब्द यानी जुड़े हुए व्यंजनों वाले शब्द

लोगों के गलों में चुभते हैं। (६) लिपि का भाषा से गहरा नाता होता है। हमारे विधान वाले चाहे कितना ही देवनागरी को चाहे हमारे देस की आर्थिक दशा को देव नागरी से बैर है। न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी। आज कल ही नहीं पैसा सदा से महाबलवान है। (७) अपने देस का इतिहास मैं कुछ सुना चुका हूं। अगर देस का रुख़ बदलना है तो संस्कृत से बेजा लगाव छोड़ना ही होगा (८) दुनिया अब इतनी छोटी हो गई है कि हम बिलकुल अलग नहीं रह सकते। हमारी भाषा पर और प्रान्तों की भाषा का ही नहीं और मुल्कों की ज़बान का भी असर पड़ेगा।

कहीं कहीं कोई कोई लेकिन दबी ज़बान से कुछ भाई मेरी बातों का यूं जवाब देते हैं कि यह सब कुछ ठीक, लेकिन वह कोई भाषा यानी बोल-चोली नहीं बना रहे, वह केवल एक लिखी बोली, एक दफ़्तरी ज़बान बना रहे हैं जो सरकारी दफ़्तरों में और क़ानूनी सभाओं और अदालतों में अंगरेज़ी की जगह बरती जाएगी। यह जनता की भाषा नहीं, विद्वानों की ज़बान होगी। इसके माने यह हुए कि जैसे कभी संस्कृत की छत पड़ी थी, जिस की जगह कभी फ़ारसी ने ली थी और अब अंगरेज़ी ले रही है, उसकी जगह यह नई भाषा की छत पड़ेगी। ख़याल अच्छा है। हम में जात पात का भेद तो बहुत पुराना है। मतों का भेद भी काफ़ी पुराना है। इन मतों में भाषा का भेद कुछ नया है जो दिनो दिन ज़ोर पकड़ रहा है। भाषा न्यारी न्यारी, लिपि अलग अलग। काँगरेस कहती है कि अब सूबों का भी बटवारा भाषा के अनुसार होगा। हर प्रान्त में ऊंची से ऊंची पढ़ाई उस प्रान्त की भाषा में दी जायगी, जिसका शायद यह फल हो कि हर एक प्रान्त में एक विद्वानों की प्रान्ती भाषा और दूसरी आम जनता की, और फिर विद्वान भी शायद दो प्रकार के होंगे, एक प्रान्ती भाषा के और एक राष्ट्री भाषा के। और बहुत मुमकिन है कि आजकल के संस्कृत विद्वानों की तरह अंग्रेज़ीदाँ भी अपने आप को एक अलग क्लास समझें। उनके

अख़बार, किताबें, क्लबें ही नहीं बिरादरी भी अलग बन जाए। हर एक प्रान्त की महाजनी लिपि अलग और तो और हर एक मत की लिपि अलग। जाति सेवा भाव तो मुद्दत से सुनते आए थे अब प्रान्ती सेवा भाव की भनक भी कानों में पड़ने लगी है। हमारा इतिहास तो यही सिखाता है कि जहाँ राज बहुत फैला तो आपस की फूट ने उसे रहने न दिया। देखिये कल क्या होता है। यह साफ़ है कि एक नई ज़बान बना कर समाज में एक और छत डालना, जिस की सीढ़ी न हो, नादानी सी मालूम होती है। क्यों न दिल्ली या आसपास की बोली को ही दफ़्तरी ज़बान बनाया जाए। मेरा मतलब केवल भाषा के ढाँचे और बुनावट से है, शब्द तो सब जगह से लिये जा सकते हैं। अगर कुछ साइन्सी टर्मों की कमी दिखाई दे तो नई टर्में बनाने की जगह क्यों न उन टर्मों से ही काम लें जो आज कल सरकारी दफ़्तरों में बरती जाती हैं। आख़िर अगर दिल्ली ही राजधानी रही तो यहां के आस पास की बोली ही राज की बोली बनेगी। फिर क्यों नहीं इस नेक काम में हमारी सरकार इस बोली का हाथ बटाती।

अन्त में पंडित पद्म सिंह शर्मा की तरह मैं भी अपनी किताब को, केवल पहला शब्द बदल कर अकबर के इस शेर से ख़तम करता हूँ :—

"बोली में जो सब शरीक होने के नहीं,
इस मुल्क के काम ठीक होने के नहीं।
मुमकिन नहीं शेख़ अमरुल क़ैस बनें,
पण्डित जी वालमीक होने के नहीं॥"

इन्डेक्स

अक्समाला १३.
अक्षर, देखो हर्फ़.
अंगरेज़ी ६६,७०,८१,८५,८८.
अरबी १७,५५.
अवधी ७१,७४,६६.
आज़ाद ७३.
आजादी ८८.
आप ६२.
आसान ४०,७६,८१.
इतालवी ७०.
ईरानी, देखो फ़ारसी.
उरदू ७३,७६.
उरदू और हिन्दी ६४,७५.
उरदू हर्फ़ २५.
ऋ,लृ २६.
ऐ २६.
औ २६.
खड़ी बोली ७६.
ख़ ३१.
ख़ुदाई ज़बान १.
गले की बनावट ७६.
ग्रामर ५५,११२.
गांधी १८.
गुजराती २६.
गुरमुखी ३१
चीनी ४५.
जरमन ७०.
जातपात ६२,६४.
जापानी ४४.
जैन ६५,२५.
ज़ ३६.
तत्सम तद्भव ७५,१०६.
तानाबाना ४७.
तुरकी २०,१०४.
दयानन्द ७७.
दरजे ६२,१११,११५.
द्रविड़ ५.
दुनिया की बोली ८२.
देवनागरी १७,२७.
धर्म ६५,६६.
टैगर्ट का नुसख़ा ४०.
टर्म ८६.
डिकशनरी १०.
ड़ ५.

पर-प्र ४६.
पंजाबी ७१,६७,६६.
प्रेमसागर ७६.
प्राकृत १.
पंडितरी ४५.
पाली ६५,६६,७७,१०६.
पूजापाठ ३,७२.
फ़ ३६.
फ़ारसी ३२,६५,६८,८५,१०३.
फ्रांसीसी ६६.
बंगाली ७१.
बनावट ४६,४८.
बनावटी बोली ५७,८२,६८.
ब्रजभाषा ७४.
बाइबिल ७१.
बिहारी ७४.
बिन्दी के हर्फ़ ३१,३६.
बुनती ४६,४८.
बुनियादी ज़बान ८१.
बोली की क़िसमें ४.
बोली का जन्म १.
बोली ख़ालिस १००,१११.
बोली खिचड़ी १००,१११.
बोली की दीवार १००,१११.
बौद्ध धर्म ६१,६५.
भोजपुरी ७४.
मंगोलियन ६.
मरहटी ७१
मागधी ७१.
यहूदी १,४.
यूनानी १.
रूसी ७०.
रोमन २१-२५,३३-३६.
लफ़्ज़ ४०,८६.
लातीनी ६८.
लिंग ५८
लिपि देखो हर्फ़
लेख १७.
व्यंजन ३४.
वाक्य ४६.
वैदिक ४.
वोकैबुलरी १२.
व्याकरण, देखो ग्रामर
श ६७,७६.
शब्द, देखो लफ़्ज़
शिक्षा ५१.
ष २६,५१,६७.
संसकृत ४६,५५,६४,६५,७८,६३,११०.
सभ्यता ३०,४२,५५.
स्वर २५,२६,३३.
स्पैनिश ६६,८५.
हर्फ़ १५.
हिज्जे ५१.
हिन्दी ७४,७७,८३.
हिन्दुस्तानी ६७,६८.

हिन्दुस्तानी कल्चर सोसाइटी की कुछ किताबें

नीचे लिखी सब किताबें नागरी और उर्दू दोनों लिखावटों में अलग अलग मिल सकती हैं. डाक या रेल ख़र्च गाहक के ज़िम्मे होगा.

महात्मा गांधी की वसीयत

लेखक—श्री मंज़र अली सोख़्ता

२९ जनवरी सन् १९४८ को महात्मा गांधी ने आल इंडिया कांगरेस कमेटी के सामने एक सुझाव के रूप में 'लोक सेवक संघ' का एक नया विधान तैयार किया था. इस विधान में उन्होंने सलाह दी थी कि कांगरेस का सारा संगठन तोड़ दिया जावे और कांगरेस वाले हकूमत से बाहर निकल कर एक 'लोक सेवक संघ' बनाकर काम करें.

३० जनवरी को अपने देहान्त से कुछ घन्टे पहले महात्मा जी ने कांगरेस के जनरल सेक्रेटरी को बुला कर वह विधान दिया कि वह गांधी जी की तरफ़ से उसे आल इंडिया कांगरेस कमेटी में पेश कर दें. यह छोटा सा विधान देश के नाम गांधी जी की आख़िरी वसीयत है और इसकी व्याख्या गांधी जी के परम भक्त श्री मंज़र अली सोख़्ता ने की है जो गांधीवाद को समझने और अपनाने वाले देश के इने गिने लोगों में से एक हैं.

गांधीवाद को समझने के लिये इसका पढ़ना बहुत ज़रूरी है. २२५ सफ़े की सुन्दर जिल्द बंधी किताब की क़ीमत सिर्फ़ दो रुपये.

मिलने का पता—मैनेजर 'नया हिन्द' १४५, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद.

भारत का विधान

पूरा हिन्दी अनुवाद

जो २६ जनवरी सन् १९५० से सारे भारत में लागू हुआ

'भारत में अंगरेजी राज' के लेखक पं० सुन्दरलाल द्वारा मूल अंगरेजी से अनुवादित.

हर भारतवासी का फ़र्ज़ है कि जिस विधान के अधीन स्वाधीन भारत का शासन इस समय चल रहा है उसे अच्छी तरह समझ ले.

यदि आप आने वाले आम चुनाव में, जिस पर भारत का सारा भविश्य निर्भर है, समझ कर हिस्सा लेना चाहते हैं और आज़ाद भारत में अपने अधिकार समझना चाहते हैं तो ज़रूरी है कि आप इस पुस्तक को ध्यान से पढ़ लें.

आसानी के लिये किताब के आख़ीर में हिन्दी से अंगरेजी और अंगरेजी से हिन्दी साठ पन्ने की शब्दमाला दे दी गई है.
भारत के हर घर में इस पुस्तक का रहना ज़रूरी है.

आसान बामहावरा भाशा. रायल अठपेजी बड़ा साइज़. लगभग चार सौ पन्ने. कपड़े की सुन्दर जिल्द. क़ीमत केवल साढ़े सात रुपए.

मिलने का पता :—

मैनेजर 'नया हिन्द'
१४५, मुट्ठी गंज
इलाहाबाद.

गीता और क़ुरान

लेखक—पं० सुन्दरलाल

इस किताब के शुरू में दुनिया के सब बड़े बड़े धर्मों की एकता को दिखाया गया है और सब धर्मों की किताबों से हवाले दे दे कर मिलती जुलती बुनियादी सचाइयों को बयान किया गया है.

उसके बाद गीता के लिखे जाने के वक़्त की इस देश की हालत, गीता के बड़प्पन और एक एक अध्याय को लेकर गीता की तालीम को बतलाया गया है.

आखिर में क़ुरान से पहले की अरब की हालत, क़ुरान के बड़प्पन और एक एक बात पर क़ुरान की तालीम को बयान किया गया है. इस में क़ुरान की पांच सौ से ऊपर आयतों का लफ़्ज़ी तरजुमा दिया गया है. यह भी बताया गया है कि क़ुरान में जेहाद, आक़बत, आख़रत, जन्नत, जहन्नम, काफ़िर वग़ैरा किसे कहा गया है.

जो लोग सब धर्मों की एकता को समझना चाहें या हिन्दू धर्म और इसलाम दोनों की इन दो अमर पुस्तकों की सच्ची जानकारी हासिल करना चाहें उन्हें इस किताब को ज़रूर पढ़ना चाहिये.

पौने तीन सौ सफ़े की सुन्दर जिल्द बंधी किताब की क़ीमत सिर्फ़ ढाई रुपये.

मिलने का पता—मैनेजर 'नया हिन्द', १४५, मुट्ठी गंज, इलाहाबाद

पंडित सुन्दरलाल की और किताबें :—

हिन्दू मुस्लिम एकता—इस में वह चार लेक्चर जमा कर दिये गए हैं जो पंडित जी ने कन्सीलियेटरी बोर्ड ग्वालियर की दावत पर ग्वालियर में दिये थे.

सौ सफ़े की किताब. क़ीमत सिर्फ बारह आने.

महात्मा गांधी के बलिदान से सबक़—साम्प्रदायिकता यानी फ़िरक़ापरस्ती की बीमारी पर राजकाजी, मज़हबी और इतिहासी पहलू से विचार और उसका इलाज, जिसने आख़िर में देश पिता महात्मा गांधी तक को हमारे बीच में न रहने दिया.

क़ीमत बारह आने.

पंजाब हमें क्या सिखाता है—महात्मा गांधी की सलाह से अक्तूबर सन् १९४७ में पच्छिमी और पूरबी पंजाब के दौरे के बाद वहां की भयंकर बरबादी और आपसी मार काट के कारन लोगों पर जो जो मुसीबतें आईं उन का दर्दनाक वर्नन. इस छोटी सी किताब में आजकल की मुसीबतों को हल करने के लिये कुछ सुझाव भी पेश किये गये हैं. क़ीमत चार आने.

बंगाल और उससे सबक़—इस छोटी सी किताब में सन १९४९-५० में पूरबी और पच्छिमी बंगाल के फ़िरक़ेवाराना झगड़ों पर रोशनी डाली गई है और ऐसे झगड़ों को हमेशा के लिये ख़त्म करने की तरकीब भी सुझाई गई है. क़ीमत सिर्फ़ दो आने.

मिलने का पता—मैनेजर 'नया हिन्द' १४५, मुट्ठीगंज, इलाहाबाद.

मुस्लिम देशभक्त— लेखक—श्री रतन लाल बंसल.

उन मुसलमान देश भक्तों के जीवन का हाल जिन्होंने अपनी जान हथेली पर रखकर हिन्दुस्तान और विदेशों में रहते हुए भारत माता को ग़ुलामी की ज़ंजीरों से आज़ाद करने की कोशिश की. किताब बड़े दिलचस्प ढंग से लिखी गई है. क़ीमत सिर्फ़ एक रुपया बारह आने.

आज के शहीद—सम्पादक—श्री रतन लाल बंसल.

इस किताब में उन वीरों की कहानियाँ हैं जिन्होंने विदेशी हाकिमों की फैलाई फूट की आग में इन्सानियत को भस्म होते देख एक छन की भी देर न की और उसे बुझाने के लिये अपनी जान क़ुरबान कर दी.

उन वीरों की कहानियां जो फ़िरक़ावाराना दंगों में लोगों को हैवानियत से रोकते हुए शहीद हो गये.

हर एकता प्रेमी के पढ़ने की किताब.

सुन्दर जिल्द और चिकने काग़ज़ पर छपी आठ तस्वीरों के साथ इस किताब का दाम सिर्फ़ ढाई रुपया.

अहिन्सात्मक इनक़लाब का रास्ता—

महात्मा गांधी के 'लोक सेवक संघ' की तजवीज़ को सामने रखकर श्री मंज़रअली सोख़्ता ने इस किताब में 'लोक सेवा संघ' को एक योजना देस के सामने रक्खी है. आज के हिंसा से भरे वातावरन में अहिन्सात्मक इनक़लाब के क्या मानी हैं और यह कैसे लाया जा सकता है यह बड़ी ख़ूबसूरती से इस किताब में समझाया गया है. देस की मौजूदा शोचनीय हालत को बदलने की इच्छा रखने वाले सब देशप्रेमियों को चाहिये कि इस किताब को ज़रूर पढ़ें.

किताब नागरी और उर्दू दोनों लिखावटों में मिल सकती है. क़ीमत सिर्फ़ चार आना.

मिलने का पता—मैनेजर 'नया हिन्द', १४५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद.

झंकार

सम्पादक—*श्री रघुपति सहाय 'फ़िराक़'*

पिछले पन्द्रह बरस से आज तक की उरदू की चुनी हुई कविताओं का यह संग्रह पढ़कर आप को मालूम होगा कि उरदू कविता ने किस तरह ख़याली दुनिया को छोड़ कर जिन्दगी की सच्चाइयों से अपना नाता जोड़ लिया है. आज की उरदू शायरी गुल व बुलबुल और वस्ल व फ़िराक़ तक ही सीमित नहीं है. अब आप को उरदू कविता में किसानों और मज़दूरों के दिलों की धड़कनें सुनाई देंगी, ग़ुलामी, अन्याय और लूट खसोट के ख़िलाफ़ आप एक ऐसी आवाज़ सुनेंगे जो आप के दिल को जोश से भर देगी.

इस संग्रह में जिन शायरों की रचनाएँ इकट्ठा की गईं हैं उनमें कुछ क नाम :—

'जोश' मलीहाबादी, 'फ़िराक़' गोरखपुरी, 'मुत्तलबी' फ़रीदाबादी, असरारुलहक़ 'मजाज़' अली सरदार जाफ़री, 'साहिर' लुधियानवी, अहमद नदीम क़ासिमी, 'कैफ़ी' आज़मी, 'वामिक़' जौनपुरी, 'मजरूह' सुलतान पुरी, 'सलाम' मछली-शहरी, कंवल प्रसाद 'कंवल', तख्तसिंह, 'शमीम' किरहानी, ग़ुलाम रब्बानी 'ताँबा' प्रेम धवन, इन्द्रजीत शर्मा, विश्व मित्र 'आदिल', 'ताजवर' सामरी, 'मुज़फ़्फ़र' शाहजहांपुरी, नरेश कुमार 'शाद', 'स्वामी' मारहवी, 'राही' मासूम रज़ा, वग़ैरा.

नागरी लिखावट में ऐसा भरपूर उरदू कविता संग्रह आज तक नहीं निकला. सुन्दर जिल्द, बढ़िया काग़ज़. उम्दा छपाई दाम सिर्फ़ तीन रुपया.

मिलने का पता :— मैनेजर, 'नया हिन्द'

१४५ मुट्ठीगंज, इलाहाबाद.